सागर जैन विद्या भारती

भाग – 5

प्रो. सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
2002

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 138

प्रधान सम्पादक
प्रो0 सागरमल जैन

सागर जैन-विद्या भारती

भाग - ५

(प्रो० सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन)

प्रो0 सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
2002

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला - 138

पुस्तक	:	**सागर जैन-विद्या भारती**
लेखक	:	प्रो० सागरमल जैन
प्रकाशक	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ,** आई० टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी- २२१००५
	:	दूरभाष ०५४२ - ३१६५२१, ३१८०४६
	:	फैक्स ०५४२ - ३१८०४६
प्रथम संस्करण	:	२००२ ई०
मूल्य	:	१००.०० रूपये मात्र
अक्षर सज्जा	:	**राजेश कम्प्यूटर्स** जयप्रकाश नगर, शिवपुरवा, वाराणसी। **सरिता कम्प्यूटर्स** औरंगाबाद, वाराणसी।
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी।
©	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ**
ISBN	:	८१-८६७१५-६८-१

Pārśwanātha Vidyāpiṭha Series : 138

Book	:	**Sāgara Jaina-Vidyā Bhārati**
Author	:	Prof. Sagarmal Jain
Publisher	:	**Pārśwanātha Vidyāpiṭha** I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi- 221005
	:	Phone 0542 - 316521, 318046
	:	Fax 0542 - 318046
First Edition	:	2002
Price	:	100.00 Rs. Only
Type Setting	:	**Rajesh Computers,** Jaiprakash Nagar, Shivpurwa, Varanasi
	:	**Sarita Computers**, Aurangabad, Varanasi.
Printed at	:	Varddhamana Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

प्रकाशकीय

प्रो० सागरमल जैन, जो जैन धर्म-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् हैं, ने जैन-विद्या के विविध पक्षों पर अपनी लेखनी चलायी है और उसे अपने गम्भीर चिन्तन-मनन एवं प्रामाणिकता के आधार पर नया स्वरूप प्रदान किया है। यही कारण है कि प्रो० जैन के सभी आलेख सार्वकालिक हैं। प्रो० जैन के आलेखों की इसी सार्वकालिकता को दृष्टि में रखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने सन् १९९३ में उनके आलेखों को सागर जैनविद्या भारती के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनायी। इस क्रम में सागर जैन-विद्या भारती, भाग-१ सन् १९९३ में, भाग-२ सन् १९९५ में, भाग-३ सन् १९९७ में तथा भाग-४ सन् २००१ में प्रकाशित हो चुकी हैं। सागर जैन-विद्या भारती, भाग-५ उसी योजना की अगली कड़ी के रूप में आप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस अङ्क में सम्मिलित १० आलेखों में से ७ आलेख प्राकृत-भाषा विशेषत: अर्धमागधी और शौरसेनी से सम्बन्धित हैं। विगत कई वर्षों से अर्धमागधी और शौरसेनी की प्राचीनता के विषय में चर्चा हो रही है। प्रो० जैन ने प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर वस्तुस्थिति की समीक्षा की है।

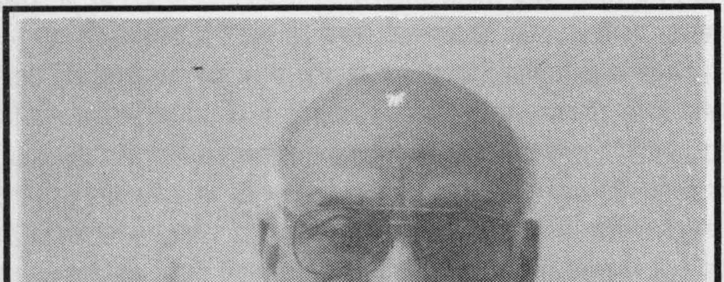
प्रो० जैन के ये शोध-आलेख जैन धर्म-दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि विषयों के विविध आयामों पर सशक्त प्रस्तुतियाँ हैं। आशा है शोध-विद्यार्थियों एवं सुधी पाठकों के लिए ये आलेख उपयोगी सिद्ध होंगे।

इस पुस्तक की प्रूफ रीडिंग पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० शिवप्रसाद ने की है तथा प्रेस सम्बन्धी कार्यों का दायित्व डॉ० विजय कुमार ने निर्वहन किया है, अत: प्रवक्ताद्वय का मैं हृदय से आभारी हूँ। सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए राजेश कम्प्यूटर्स एवं सरिता कम्प्यूटर तथा सत्वर मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालय को धन्यवाद देता हूँ।

दिनांक : 07-03-2002

इन्द्रभूति बरड़
संयुक्त सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

विषयानुक्रमणिका



आदरणीय भाई साहब श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन
को सादर सम्पर्पित

सागरमल जैन

अर्धमागधी आगम साहित्य कुछ सत्य और तथ्य

अर्धमागधी आगम प्राकृत साहित्य का प्राचीनतम रूप

भारत की तीन प्राचीन भाषाएँ हैं— संस्कृत, प्राकृत और पाली। उनमें प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन हैं। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई०पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचाराङ्ग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और भगवान् महावीर की स्वयं की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं।[१] इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण उस व्यक्ति द्वारा लिखा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना है। अर्धमागधी आगमसाहित्य में ही सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठें अध्याय, आचाराङ्गचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है किन्तु वह भी अपेक्षाकृत रूप में आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती है, क्योंकि उनमें क्रमश: अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालि साहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालि साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित सुत्तनिपात से भी प्राचीन है।[३] अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अत: इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्त्व में आ चुका था।[४] इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तरसीमा ई०पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

अर्धमागधी आगमों का रचनाकाल

हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक

व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाणसम्वत् ९८० में वलभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान् मित्र सहज निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पांचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पांचवी-छठीं की शती की रचना है, तो वलभी की इस वाचना के पूर्व भी वलभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वलभी में मुख्यत: आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारूढ़) किया गया था, अत: यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुन: आगमों में विषयवस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत् रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनके प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाते और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्याय में वर्णित महावीर का जीवनवृत अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय वस्तु में कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अत: इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका अर्धमागधी का 'त' प्रधान स्वरूप सुरक्षित है। आचाराङ्ग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अनेक पाठान्तर हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है।[५] उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का 'रामपुत्ते' पाठ चूर्णि में 'रामाउत्ते' और शीलांक की टीका में 'रामगुत्ते' हो गया।[६] अत: अर्धमागधी आगमों में महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनके प्राचीनता पर संदह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीनस्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुत: अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई० पू० पांचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई० सन् की पांचवी शताब्दी है किन्तु अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा

शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका अंशविशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषयवस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं, धवला और जयधवला में मिलते हैं।[७] उसमें भी तत्त्वार्थ की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और धवलादि में उनकी विषयवस्तु सम्बन्धी मात्र अनुश्रुतिपरक निर्देश हैं, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं। उनमें दिया गया विवरण-तत्त्वार्थभाष्य के आधार पर परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध उनके जो विवरण स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में हैं वे ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित हैं अत: आगम ग्रन्थों की विषयवस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त ग्रन्थों से प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आयारचूला और निशीथ के जुड़ने, पुन: निशीथ के अलग होने की घटना समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाता के द्वितीय वर्ग में जुड़े अध्याय; प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन; अन्तकृतदशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन इन सबकी प्रमाणिक जानकारी हमें इनके समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है।[८] इसमें प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण, लगभग ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्त्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है। अत: आगम विशेष या उसके अंशविशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषयवस्तु, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीर निर्वाण सं० ५८४ तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं हैं जो वीर निर्वाण सं० ६०९ अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अत: विषयवस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की

भाषा-शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्द्धिगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पांचवीं शताब्दी में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम गणधरों की रचना है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम का प्राचीनतम ग्रन्थ **कसायपाहुड** भी ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। अतः प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है।

अर्धमागधी आगमों की विषय वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषय वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। **भगवती** के कुछ अंश, **प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार,** जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, उनको छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराईयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के **समयसार** के समान सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी उनमें कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती हैं, किन्तु चिन्तन के विकासक्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर के होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के आधारभूत भी। **समवायांग** में जीवस्थानों के नाम से १४ गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि **षट्खण्डागम** जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। **मूलाचार, भगवती-आराधना,** कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और **गोम्मटसार** आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूंकि **तत्त्वार्थ** में गुणस्थानों की चर्चा एवं स्याद्वाद सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी के रचनाएँ **तत्त्वार्थ** के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार **कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मटसार** आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः अर्धमागधी आगमों की सरल बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी विशेषता एवं प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अत: अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें विसंगतियां पायी जाती हैं। वस्तुत: ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया। एक ओर उनमें अहिंसा की सूक्ष्मता के साथ पालन के निर्देश हैं तो दूसरी ओर ऐसे अनेक निर्देश भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के विपरीत हैं। इस प्रकार एक ओर उनमें न केवल मुनि की अचेलता का प्रतिपादन है अपितु उसका समर्थन भी किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोंच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। **उत्तराध्ययन** में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं **उत्तराध्ययन** के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। वस्तुत: तथ्यों का यथार्थरूप में प्रस्तुतीकरण अर्धमागधी आगम साहित्य की विशेषता है। वस्तुत: तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों का कालक्रम-निर्धारण सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा के आचार एवं विचार में कालक्रम में कुछ परिवर्तन हुए। दार्शनिक चिन्तन और आचार-नियमों में कालक्रम में हुए परिवर्तनों को जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें तथ्यों के क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैन धर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होता गया इसकी जानकारी **ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन सूत्रकृतांग** और **भगवती** के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। **ऋषिभाषित** में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि अन्य परम्परा के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया। **उत्तराध्ययन** में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नग्गति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और **सूत्रकृतांग** में इनमें से कुछ को परम्परा-सम्मत माना गया, यद्यपि जैन परम्परा से उनके आचारभेद को भी दर्शाया गया; वहीं **ज्ञाताधर्मकथा** में नारद की और **भगवती** के पन्द्रहवें शतक में मंखलीगोशाल की कटु आलोचना की गई। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य में जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे कम होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये इसका यथार्थ चित्रण उपलब्ध होता है।

आचारांग— प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, **दशवैकालिक, निशीथ** आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार **ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाता** आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वापत्यों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच किस प्रकार सम्बन्धों में परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं।

अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्यासाहित्य के आधार

अर्धमागधी आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री व्याख्यासाहित्य के आधार रहे हैं, क्योंकि वे जैन धर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश-काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी भी सामग्री है जो उनकी अपनी मौलिक कही जा सकती है। फिर भी उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में अर्धमागधी आगमों को स्वीकार किया जा सकता है। मात्र **मूलाचार** की ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ **उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक निर्युक्ति, जीवसमास, आतुर प्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्दावेज्झय)** आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार **भगवती आराधना** की अनेक गाथायें अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पइन्ना) में मिलती हैं। **षट्खण्डागम** और **प्रज्ञापना** में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुख मालवणिया ने (प्रो०ए०एन० उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। **नियमसार** की कुछ गाथाएँ **अनुयोगद्वार** एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि **समयसार** आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। **तिलोयपन्नति** का प्राथमिक रूप विशेषरूप से **आवश्यक निर्युक्ति** तथा कुछ प्रकीणकों के आधार पर तैयार हुआ, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है। इसप्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि उनका मूलआधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है, तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराईयाँ और विकास परिलक्षित होते हैं वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन हैं।

अर्धमागधी आगमों का कृर्तत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में **प्रज्ञापना, दशवैकालिक** और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि **दशवैकालिक** आर्य शयम्भवसूरि की, छेदसूत्र आर्य भद्रबाहु की और **प्रज्ञापना** श्यामाचार्य (आज्जकण्ह) की कृति मानी जाती है। **महानिशीथ** का उसकी दीमकों से

भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य **हरिभद्र** ने समुद्धार किया था यह स्वयं उसी में उल्लेखित है। जबकि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवत: उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्य-जन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधर अथवा पूर्वधरों की कृति है। इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्त्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें प्राय: सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई इस सम्बन्ध में **प्रश्नव्याकरण** की सम्पूर्ण विषयवस्तु के परिवर्तन की पूर्व में ही चर्चा की जा चुकी है। अभी अभी **अंगचूलिया** और **बंगचूलिया** नामक दो विलुप्त आगम ग्रन्थ प्राप्त हुये, जो भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध हैं, किन्तु जब उनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोंकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। क्योंकि अर्धमागधी आगमों की यह विशेषता है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

अर्धमागधी आगमों के वर्गीकरण का प्रश्न

यद्यपि आज अर्धमागधी आगमों को अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिकासूत्र और प्रकीर्णक के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। प्राचीनतम उल्लेख तो अंग और अंगबाह्य के रूप में ही मिलते हैं, इनमें भी १२ अंगों का तो स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु अंग बाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश कही नहीं है। पुन: नन्दी और तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य का आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त तथा कालिक एवं उत्कालिक के रूप में तो वर्गीकरण मिलता है, किन्तु उपांग, मूल, छेद आदि के रूप में नहीं मिलता है। अंगबाह्य आगमों की विस्तृत सूची भी **नन्दी** और **तत्त्वार्थभाष्य** में मिलती है, उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि न केवल **दृष्टिवाद** और पूर्व साहित्य के ग्रन्थों का लोप हुआ है, किन्तु अनेक अर्धमागधी अंग बाह्य ग्रन्थों का भी लोप हो चुका है। यद्यपि इस लोप का यह अर्थ भी नहीं है कि उनकी विषयवस्तु पूर्णत: नष्ट हो गई, अपितु इतना ही है कि उसकी विषयवस्तु अन्यत्र किसी ग्रन्थ में सुरक्षित हो जाने से उस ग्रन्थ का रूप समाप्त हो गया।

आगमों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह अतिरंजना पूर्ण है। उनकी विषयवस्तु के आकार के सम्बन्ध में आगमों और परवर्ती ग्रन्थों में जो सूचनाएँ हैं वे उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न उपस्थित करती हैं। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषयवस्तु में क्रमशः विकास ही होता रहा है। यह कहना कि **आचारांग** के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित थी अथवा १४ वें पूर्व की विषयवस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था विश्वास की वस्तु हो सकती है, बुद्धिगम्य नहीं।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थदर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं० बेचरदास जी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बरों को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेंगे तो श्वेताम्बर सारे वस्त्र-पात्र के उल्लेख महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ है। यही स्थिति अन्य प्रकार के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त अध्ययन की भी होगी। पुनः शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

सन्दर्भ :

१. प्रो०सागरमल जैन, 'अर्धमागधी आगमसाहित्य : एक विमर्श', **प्रो० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ,** वाराणसी १९९८ ई०, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ७.

२. देखें— **आचाराङ्ग**, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ९, उपधान श्रुत.

३. देखें— **ऋषिभाषित : एक अध्ययन** (डॉ० सागरमल जैन) पृ० ४-९.

४. **आवश्यकचूर्णि,** भाग २- पृ० १८७.

५. देखें— (अ) **श्रमण**, वर्ष ४१, अंक १०, १२ अक्तम्बर-दिसम्बर ९८ डॉ० के०आर चन्द्रा— क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध प्राकृत रूपों की कथा और उसका अर्धमागधी रूपान्तर, पृ० ४९-५६.

(ब) के०आर० चन्द्रा, "आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वीकृत कुछ पात्रों की

समीक्षा", **पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ,** वाराणसी १९९० ई०, हिन्दी खण्ड, पृष्ठ १-७.

६. प्रो० सागरमल जैन एवं प्रो० एम०ए० ढांकी, "रामपुत्त या रामगुप्तः सूत्रकृताङ्ग के संदर्भ में", **पं० बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ,** पृ० ८-११.

७. (*i*) **स्थानांग** १०, (*ii*) **समवायांग**, (*iii*) **नन्दी**, (*iv*) **नन्दीचूर्णि,** (*v*) **तत्त्वार्थभाष्य** १, (*vi*) **सर्वार्थसिद्धि**, (*vii*) **धवला**, (*viii*) **जयधवला**।

८. प्रो० सागरमल जैन, 'अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु', **पं० दलसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ,** वाराणसी १९९१ ई०; हिन्दी खण्ड, पृष्ठ १२-१८.

●

जैन आगमों की मूल भाषा : अर्धमागधी या शौरसेनी?

वर्तमान में 'प्राकृत विद्या' नामक शोध-पत्रिका के माध्यम से जैन विद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन कर रहा है कि **''जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिसे कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधी बना दी गई''**। इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृतें यथा— मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अत: ये सभी शौरसेनी प्राकृत से परिवर्ती भी हैं। इसी क्रम में दिगम्बर-परम्परा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्द रूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है। इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर मान्य आगमों को दिगम्बर-परम्परा में मान्य आगम तुल्य ग्रन्थों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी में निबद्ध आगमतुल्य ग्रन्थों को प्राचीन सिद्ध किया जाये। इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के बीच कटुता की खाई गहरी होती जा रही है और इन सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा।

क्या आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया? जैन विद्या के कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया। अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर-दिगम्बर किन्हीं भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो० टाँटिया के व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत करते हैं। डॉ० सुदीप जैन ने **'प्राकृतविद्या'** जनवरी-मार्च, १९९६ के सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

हाल ही में श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्दस्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो० नथमलजी टाँटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि "श्रमण-साहित्य का प्राचीन-रूप, चाहे वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हों, श्वेताम्बरों के 'आचाराङ्गसूत्र', 'दशवैकालिकसूत्र' आदि हों अथवा दिगम्बरों के 'षट्खण्डागमसूत्र', 'समयसार' आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक बृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध-साहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध-साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात कर दिया। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इन स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी ५०० ई० से परवर्ती मानना पड़ेगा।"

"उन्होंने स्पष्ट किया कि आज भी 'आचाराङ्गसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूल रूप खो रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित एवं उपलब्ध हैं।"

निस्सन्देह प्रो० टाँटिया जैन और बौद्ध-विद्याओं के वरिष्ठतम विद्वानों में एक रहे हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा; किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है? क्योंकि एक ओर **तुलसीप्रज्ञा** के सम्पादक का कहना है कि टाँटियाजी ने इसका खण्डन किया है। वे **तुलसीप्रज्ञा** (अप्रैल-जून, १९९३, खण्ड १९, अंक १) में लिखते हैं कि **"डॉ० नथमल टाँटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का खण्डन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताङ्ग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।"**

दूसरी ओर **प्राकृतविद्या** के सम्पादक डॉ० सुदीपजी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उनके विचारों की अविकल रूप से यथावत् प्रस्तुती की है। मात्र इतना ही नहीं डॉ० सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि **तुलसीप्रज्ञा** के खण्डन के बाद भी वे टाँटियाजी से मिले हैं और टाँटियाजी ने उन्हें कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं। टाँटियाजी के इस कथन को

उन्होंने **प्राकृतविद्या** जुलाई-सितम्बर १९९६ के अंक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।" (पृ० ९)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है; किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और डॉ० टाँटिया का मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी सम्भव था जब डॉ० टाँटिया स्वयं इस सम्बन्ध में लिखित वक्तव्य देते; किन्तु वे इस सम्बन्ध में मौन रहे। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था; किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डॉ० टाँटिया की उलझन समझता हूँ—एक ओर कुन्दकुन्द भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया था, तो दूसरी ओर वे 'जैन विश्वभारती' की सेवा में थे, जब जिस मंच से बोले होंगे भावावेश में उनके अनुकूल कुछ कह दिये होंगे और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें? फिर भी मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डॉ० टाँटिया जैसे गम्भीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दे दें। कहीं न कहीं शब्दों की कोई जोड़-तोड़ अवश्य हो रही है। डॉ० सुदीपजी **प्राकृतविद्या** जुलाई-सितम्बर, १९९६ में डॉ० टाँटियाजी के उक्त व्याख्यानों के विचार बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि "हरिभद्र का सारा **योगशतक** धवला से (के आधार पर बना) है।"

इसका तात्पर्य है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को धवला के आधार पर बनाया है। क्या टाँटियाजी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास-बोध नहीं रहा होगा कि 'योगशतक' के कर्ता हरिभद्रसूरि और 'धवला' के कर्ता में कौन पहले हुआ है? यह ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का 'योगशतक' (आठवीं शती) 'धवला' (१०वीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास भी नहीं होता है कि टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दें। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया गया है।*

वस्तुतः यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान् ने क्यों न कहा हो? यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है, तो अभी संयोग से टाँटियाजी से भी वरिष्ठ, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन-बौद्ध विद्याओं के महामनीषी और स्वयं टाँटियाजी के गुरु पद्मविभूषण पं० दलसुखभाई हमारे बीच हैं*, फिर तो उनके कथन को अधिक प्रामाणिक

---

*. ज्ञातव्य है कि विगत २० फरवरी १९९९ ई० आदरणीय टाँटियाजी का स्वर्गवास हो गया है। अतः उनके नाम पर प्रसारित भ्रमों से बचना आवश्यक है।

*. पं० मालवणिया जी भी अब नहीं रहे।

मानकर 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर यह सब प्रास्ताविक बातें थीं, जिससे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है, कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत संगोष्ठी की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों या वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि जैन आगमों की मूल भाषा क्या थी और अर्धमागधी तथा शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूल भाषा–अर्धमागधी

(क) यह एक सुनिश्चित सत्य है कि महावीर का जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र ही रहा है, अत: यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा में बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुन: श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य जो भी 'आगम साहित्य' आज उपलब्ध है, उनमें अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिये थे।

इस सम्बन्ध में अर्धमागधी आगम साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा—

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। -समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२.

२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मं परिकहेइ। -औपपातिकसूत्र

३. गोयमा! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति। -भगवई, लाडनूं, शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३.

४. तए णं समये भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए... सव्व भाषाणुगामिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेइ। -भगवई, लाडनूं,शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९.

५. तए णं समये भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स ... अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ। -भगवई, लाडनूं, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३.

६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। -आचाराङ्गचूर्णि, जिनदासगणि, पृ० २५५.

मात्र इतना ही नहीं, दिगम्बर-परम्परा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ

'बोधपाहुड', जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगम्बर आचार्य श्रुतसागरजी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया था। प्रमाण के लिये उस टीका के हिन्दी अनुवाद का यह अंश प्रस्तुत है। '**अर्ध मगधदेश भाषात्मक** और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान् की ध्वनि खिरती है। शंका— अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है, क्योंकि **भगवान् की भाषा ही अर्धमागधी है?** उत्तर- मगध देव के सान्निध्य में होने से।' आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'नन्दीश्वर भक्ति' के अर्थ में लिखा है— "एक योजन तक भगवान् की वाणी स्वयंमेव सुनायी देती है। उसके आगे संख्यात योजनों तक उस दिव्य ध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अतः **अर्धमागधी भाषा देवकृत** है।" (षट्प्राभृतम्*, चतुर्थ बोधपाहुड-टीका, गाथा ३२, पृ० ११९)

मात्र यही नहीं, वर्तमान में भी दिगम्बर-परम्परा के महान् सन्त एवं आचार्य विद्यासागरजी के प्रमुख शिष्य मुनिश्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म-दर्शन, (प्रथम संस्करण) पृ०४० पर लिखते हैं कि 'उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ।'

जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान् का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है?

(ख) उपरोक्त आगमिक प्रमाणों की चर्चा के अलावा व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं—

१. यदि भगवान् महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिये तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा। अतः आगमों की मूलभाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है, यह मानना होगा।

---

*. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत इस प्रकार है—

सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थः अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत्? मगधदेश सन्निधाने तथापरिणतया भाषया संस्कृत भाषया प्रवर्तते। सर्वजनेता विषया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागधप्रीतिंकरदेवातिशयवशान्मागधभाषया भाषन्तेऽन्योन्यं मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वातिशयौ। -षट्प्राभृतादि-संग्रहः श्री मा०दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, वि०सं० १९७७, पृ० ९९, गाथा, ३२.

२. इसके विपरीत 'शौरसेनी आगम तुल्य' मान्य ग्रन्थों में किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं हैं, **जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी।** उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थङ्करों की जो वाणी खिरती है, वह सर्वभाषारूप परिणत होती है। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जनसाधारण को आसानी से समझ में आती थी। यह लोकवाणी थी। उसमें मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द रूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया है।

३. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के **'जैन आगम'** यथा— 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं और उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि भगवान् महावीर ने बिहार, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आगे विहार किया हो। अत: उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।

४. पुन: आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में और दूसरी वाचना खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अत: कम से कम प्रथम और द्वितीय वाचना के समय तक अर्थात् ई०पू० दूसरी या प्रथम शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैनधर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर लगभग ई०पू० दूसरी शती या ई०पू० प्रथम शती में मथुरा बना तो उस पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारम्भ हुआ हो। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शौरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है कि जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा। सम्भवत: फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कन्दिल (चतुर्थ शती) की 'माथुरी वाचना' के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया था, यही कारण है कि 'यापनीय-परम्परा' में मान्य 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'निशीथ', 'कल्प' आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डॉ० टाँटिया ने यह कहा है कि 'आचाराङ्ग' आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से प्रभावित संस्करण भी था, जो मथुरा क्षेत्र में विकसित 'यापनीय-परम्परा' को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है क्योंकि 'भगवती आराधना' की टीका में 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'निशीथ' आदि के जो सन्दर्भ दिये गये हैं वे सभी शौरसेनी से प्रभावित हैं; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि

नहीं कि आगमों की रचना शौरसेनी में हुई थी और वे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये। ज्ञातव्य है कि 'माथुरी वाचना' स्कन्दिल के समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें जिन आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे ही। यापनीयों ने आगमों के इसी शौरसेनी-प्रभावित संस्करण को मान्य किया था; किन्तु दिगम्बरों के लिये तो वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस 'माथुरी वाचना' के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही 'आगम साहित्य' विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'कल्प', 'व्यवहार', 'निशीथ' आदि तो ई०पू० चौथी शती से दूसरी शती तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन विद्या के केन्द्र के रूप में विकास ई०पू० द्वितीय या प्रथम शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कब और कैसे?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कन्दिलाचार्य की इस 'माथुरी वाचना' के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वलभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी, अत: इसी काल में उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव भी आया, क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित 'आगम' आज तक श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य हैं। अत: इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री-प्रभावित और शौरसेनी-प्रभावित संस्करण, जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शती में अस्तित्व में आये, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही रहे। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कन्दिलाचार्य की 'माथुरी वाचना' में और न नागार्जुन की 'वलभी वाचना' में आगमों की भाषा में सोच-समझपूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक 'आगम' कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करनेवाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारण शैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ उसके 'आगम पाठ' उस क्षेत्र की बोली-शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ वलभी में एकत्रित हुआ, उसके 'आगम पाठ' इस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुन: यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनाओं में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो 'अर्धमागधी आगम' ही थे, यही कारण है कि 'शौरसेनी आगम' न तो शुद्ध शौरसेनी में हैं और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में, उन दोनों में अर्धमागधी के शब्द-रूप तो उपलब्ध हो ही रहे हैं। शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद्

उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से अनेक आगम ५० प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य आगमों में प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है, उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख 'जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श', सागर जैन विद्याभारती (भाग १, पृ० २३९-२४३) में की हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उसका निम्न अंश द्रष्टव्य है—

"जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुत: इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं हैं, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमश: विचार करेंगे—

१. भारत में, वैदिक-परम्परा में वेद वचनों को मन्त्र रूप में मानकर उनके स्वर-व्यञ्जन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया। उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण रहा। यही कारण है कि आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमन्त्रों की उच्चारण शैली, लय आदि के प्रति तो अत्यन्त सतर्क रहते हैं; किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन-परम्परा में यह माना गया कि तीर्थङ्कर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। अत: जैनाचार्यों के लिये अर्थ या कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये। इसी क्रम में ईसा की चतुर्थ शती में अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी- प्रभावित और महाराष्ट्री-प्रभावित संस्करण अस्तित्व में आये।

२. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए उसका दूसरा कारण यह था कि जैन भिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती थी, फलत: उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गयीं।

३. जैन भिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही था, फलत: आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और उनमें तत्-तत् क्षेत्रीय

बोलियों का मिश्रण होता गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है, तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों की ही बोलियों का प्रभाव आ जाता है। फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम के भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

४. सामान्यतया बुद्ध के वचन बुद्ध के निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गये। अतः उनके भाषिक स्वरूप में रचना-काल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही है। आज भी श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरु-शिष्य-परम्परा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देशकालगत उच्चारण भेद से उनको लिपिबद्ध करते समय उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। मात्र यही नहीं, लिखित प्रतिलिपियों के पाठ भी प्रतिलिपिकारों की असावधानी या क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हुए। श्वेताम्बर आगमों की प्रतिलिपियाँ मुख्यतः गुजरात एवं राजस्थान में हुई, अतः उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव आ गया।

५. भारत में कागज का प्रचलन न होने से भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई० सन् की ५वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिये दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा पर आधारित होने से आगमों के भाषिक स्वरूप में वैविध्य आ गया।

६. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो वैविध्य देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र का होता था, उस पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द-रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूलपाठ में "गच्छति" लिखा हो लेकिन यदि उस क्षेत्र में प्रचलन में "गच्छइ" का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार "गच्छइ" रूप ही लिख देगा।

७. जैन आगम एवं आगम-तुल्य ग्रन्थों में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण

यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र की प्रचलित भाषा और व्याकरण के आधार पर उनमें परिवर्तन भी कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए, तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब वलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री के प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे। अतः अर्धमागधी और शौरसेनी आगमों में भाषिक स्वरूप का जो वैविध्य है, वह एक यथार्थता है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा।''

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है?

डॉ० सुदीप जैन का दावा है कि ''आज भी शौरसेनी आगम साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप शौरसेनी में सर्वत्र ''ण'' का प्रयोग मिलता है, कहीं भी ''न'' का प्रयोग नहीं है जबकि अर्धमागधी में नकार के साथ-साथ णकार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी युग में नकार का प्रयोग आगम भाषा में प्रचलित होता, तो दिगम्बर-साहित्य में कहीं तो विकल्प से नकार प्राप्त होता।'' — **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर, १९९६, पृ० ७.

यहाँ डॉ० सुदीप जैन ने दो बातें उठायी हैं, प्रथम शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी 'ण'कार और 'न'कार की। क्या सुदीपजी, आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्करणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रामाणिक अध्ययन किया है? यदि आपने किया होता तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते? आप केवल णकार का ही उदाहरण क्यों देते हैं, वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य हैं। दूसरे शब्द-रूपों की चर्चा क्यों नहीं करते हैं? नीचे मैं दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्त्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है, यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित है, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं—

१. आत्मा के लिये अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा आदि शब्द रूपों के प्रयोग उपलब्ध हैं, जबकि शौरसेनी में घोषीकरण के कारण ''आता'' का ''आदा'' रूप बनाता है। 'समयसार' में ''आदा'' के साथ-साथ ''अप्पा'' शब्द-रूप, जो कि अर्धमागधी का है, अनेक बार प्रयोग में आया है, केवल 'समयसार' में ही

नहीं अपितु 'नियमसार' (१२०, १२१, १८३) आदि मेंभी "अप्पा" शब्द का प्रयोग है।

२. श्रुत का शौरसेनी रूप "सुद" बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर "सुदकेवली" शब्द के प्रयोग भी हुए हैं, जबकि 'समयसार' (वर्णी ग्रन्थमाला) गाथा ९ एवं १० में स्पष्ट रूप से "सुयकेवली", "सुयणाण" शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है जबकि ये दोनों महाराष्ट्री शब्द-रूप हैं और परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव 'सुत' शब्द का प्रयोग होता है।

३. शौरसेनी में मध्यवर्ती असंयुक्त "त्" का "द्" होता है साथ ही उसमें "लोप" की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रिया रूप "हवदि, होदि, कुणदि, गिण्हदि कुण्वदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि आदि बनते हैं, इन क्रिया-रूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में हुआ भी है; किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया-रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है—

'समयसार' वर्णी ग्रन्थमाला (वाराणसी)-

जाणइ (१०), हवई (११, ३१५, ३८४, ३८६), मुणइ (३२), वुच्चइ (४५), कुव्वइ (८१, २८६, ३१९, ३२१, ३२५, ३४०), परिणमइ (७६, ७९, ८०), (ज्ञातव्य है कि 'समयसार' के इसी संस्करण की गाथा क्रमांक ७७, ७८, ७९ में परिणमदि रूप भी मिलता है) इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप जैसे वेयई (८४), कुणई (७१, ९६, २८९, २९३, ३२२, ३२६), होइ (९४, १९७, ३०६, ३४९, ३५८), करेई (९४, २३७, २३८, ३२८, ३४८), हवई (१४१, ३२६, ३२९), जाणई (१८५, ३१६, ३१९, ३२०, ३६१), बहइ (१८९), सेवइ (१९७), मरइ (२५७, २९०), (जबकि गाथा २५८ में मरदि है), पावइ (२९१, २९२), घिप्पइ (२९६), उप्पज्जइ (३०८), विणस्सइ (३१२, ३४५), दीसइ (३२३) आदि भी मिलते हैं। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं। ऐसे अनेको महाराष्ट्री प्राकृत के क्रिया-रूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल 'समयसार' अपितु 'नियमसार', 'पञ्चास्तिकायसार', 'प्रवचनसार' आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दीकृत 'श्रावकाचार' (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रन्थों से भी बदतर है, उसकी प्रारम्भ की सौ गाथाओं के ४० प्रतिशत क्रिया रूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित यह होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल वैविध्य है, अपितु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीपजी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते तो, इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता?

प्रो० ए०एम० उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टत: यह स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो० खड़बड़ी ने तो 'षट्खण्डागम' की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

'न'कार और 'ण'कार में कौन प्राचीन?

अब हम णकार और नकार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीपजी, आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में नकार और णकार दोनों पाये जाते हैं; किन्तु दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में सर्वत्र णकार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमी के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस णकार प्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग प्राचीन है। ई०पू० तृतीय शती के अशोक के अभिलेख एवं ई०पू० द्वितीय शती के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई०पू० दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक)- इन लगभग ८० जैन शिलालेखों में दन्त्य नकार के स्थान पर एक भी णकार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों यथा "णमो", "अरिहंताणं" और "णमो वड्ढमाणं" का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है— ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२ से प्रस्तुत हैं, जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित है—

१. हाथीगुम्फा उड़ीसा का शिलालेख- प्राकृत, जैन सम्राट् खारवेल, मौर्यकाल १६५वां वर्ष, पृ०-४, लेख-क्रमांक २, **'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं''**

२. वैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि, उड़ीसा-प्राकृत, मौर्यकाल १६५वां वर्ष लगभग ई०पू० दूसरी शती, पृ०-११, ले०क्र०-३, **'अरहन्तपसादन'**

३. मथुरा, प्राकृत, महाक्षत्रप शोडाशके, ८१ वर्ष का पृ०-१२, क्रमांक-५, **'नम अहरतो वधमानस'**

४. मथुरा, प्राकृत, काल निर्देश नहीं दिया है; किन्तु जे०एफ० फ्लींट के अनुसार लगभग १३-१४ ई० पूर्व प्रथम शती का होना चाहिए। पृ०-१५, क्रमांक-९, **'नमोअरहतो वधमानस्य'**

५. मथुरा, प्राकृत, सम्भवत: १३-१४ ई०पू० प्रथम शती पृ०-१५ लेख क्रमांक १०, **'मा अरहतपूजा (ये)'**

६. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१७, क्रमांक-१४, **'मा अहरतानं (अरहंतानं) श्रमण-श्राविका (य)**

७. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१७, क्रमांक-१५, **'नमो अरहंतानं'**

८. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१८, क्रमांक-१६, **'नमो अरहतो महाविरस'**

९. मथुरा, प्राकृत, हुविष्क संवत् ३९- हस्तिस्तम्भ पृ०-३४, क्रमांक ४३, **'अर्य्येन रुद्रदासेन' अरहंतनं पुजाये।**

१०. मथुरा, प्राकृत, भग्न, वर्ष ९३, पृ०-४६, क्रमांक-६७, **'नमो अर्हतो महाविरस्य'**

११. मथुरा, प्राकृत, वासुदेव सं०-९८, पृ०-४७, क्रमांक-६०, **'नमो अरहतो महावीरस्य'**

१२. मथुरा, प्राकृत, पृ०-४८ ९ (बिना काल निर्देश) क्रमांक ७१, **'नमो अरहंतानं सिहकस'**

१३. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश) पृ०-४८, क्रमांक-७२, **'नमो अरहंताना'**

१४. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश) पृ०-४८, क्रमांक-७३ **'नमो अरहंतान'**

१५. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश), पृ०-४९, क्रमांक-७५, **'अरहंतान वधमानस्य'**

१६. मथुरा, प्राकृत, भग्न, पृ०-५१, क्रमांक-८०, **'नमो अरहंताण...'**

शूरसेन प्रदेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी, तीसरी शती तक 'नकार' के स्थान पर 'णकार' एवं मध्यवर्ती असंयुक्त 'त' के स्थान पर 'द' के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगम्बर आगमों एवं नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की दूसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि 'नकार' प्रधान अर्धमागधी का चलन तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई०पू० तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन हैं, आगमों का शब्द-रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में हुआ है। दिगम्बर मान्य आगमों की वह शौरसेनी जिसकी प्राचीनता का बढ़-चढ़ कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर परन्तु अपनी विषयवस्तु के आधार पर भी ईसा की चौथी-पांचवी शती के पूर्व की नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है, तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी-चौथी शती तक का एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है? अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख, बडली का अभिलेख और मथुरा के शताधिक

अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है। अत: उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है; किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है। अत: प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन है, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी नमो अरहंतानं, नमो वधमानस आदि अर्धमागधी शब्द-रूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आये ''अरहंतानं'' पाठ को तो 'प्राकृतविद्या' में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (**प्राकृतविद्या**, अक्टूबर-दिसम्बर, १९९४, पृ० १०-११) अत: शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'आचाराङ्ग' आदि द्वादशाङ्गी जिन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय-परम्परा आगम कहकर उल्लेखित करती हैं, वे सभी मूलत: अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर-परम्परा में 'नन्दीसूत्र' में उल्लेखित आगम हों, चाहे 'मूलाचार', 'भगवती आराधना' और उनकी टीकाओं में या 'तत्त्वार्थ' और उसकी दिगम्बर टीकाओं में उल्लेखित आगम हों, अथवा 'अंगपण्णति' एवं 'धवला' के अंग और अंग बाह्य के रूप में उल्लेखित आगम हों, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था। हाँ! इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण माथुरी वाचना के समय लगभग चतुर्थ शती में अस्तित्व में अवश्य आये थे; किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा। वस्तुत: ये 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'ऋषिभाषित' आदि श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय-परम्परा में मान्य थे और जिनके भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ-भेदों को छोड़कर श्वेताम्बर मान्य आगमों से समरूपता थी। इनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने ''जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय'' नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में की है। इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

वस्तुत: आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं उनमें मुख्यत: निम्न ग्रन्थ आते हैं—

अ. यापनीय आगम

१. **कसायपाहुड,** लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधराचार्य-रचित।

२. **षट्खण्डागम,** ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध, पुष्पदन्त और भूतबलि।

३. **भगवती आराधना,** ईसा की छठी शती, शिवार्य-रचित।

४. **मूलाचार,** ईसा की छठी शती, वट्टकेर-रचित।

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थ मूलत: यापनीय-परम्परा के रहे हैं और इनमें अनेकों गाथाएँ श्वेताम्बर मान्य आगमों, विशेषरूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं।

ब. कुन्दकुन्द, ईसा की पांचवीं-छठी शती के लगभग के ग्रन्थ–

५. **समयसार**

६. **नियमसार**

७. **प्रवचनसार**

८. **पञ्चास्तिकायसार**

९. **अष्टपाहुड** (इसका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना सन्दिग्ध है, क्योंकि इसकी भाषा में अपभ्रंश के शताधिक प्रयोग मिलते हैं और इसका भाषा स्वरूप भी कुन्दकुन्द की भाषा से परवर्ती है)।

स. अन्य ग्रन्थ (ईसा की पाँचवी-छठी शती के पश्चात्)–

१०. **तिलोयपण्णत्ति-यतिवृषभ**

११. **लोकविभाग**

१२. **जम्बूदीपपण्णत्ति**

१३. **अंगपण्णत्ति**

१४. **क्षपणसार**

१५. **गोम्मटसार** (दसवीं शती)

इनमें से 'कसायपाहुड' को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवीं शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धान्त एवं सप्तभंगी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पाँचवीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में 'समवायांग' और 'आवश्यकनिर्युक्ति' की दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर गुणस्थान की चर्चा पूर्णत: अनुपस्थित है, जबकि 'षट्खण्डागम', 'मूलाचार', 'भगवतीआराधना' आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसकी चर्चा पायी जाती है, अत: ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र'-मूल और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएँ गुणस्थान की विस्तृत चर्चाएँ प्रस्तुत करती हैं। उमास्वाति का काल तीसरी-चौथी शती के लगभग है। अत: यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धान्त पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है। अत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ, जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र 'कसायपाहुड' ही ऐसा है, जो स्पष्टत:

गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है; किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से १२ गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अत: वह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख 'आचाराङ्गनिर्युक्ति' और 'तत्त्वार्थसूत्र' में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के संक्रमणकाल की रचना है, अत: उसका काल भी चौथी से पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार पर भी किया जाता है कि यह नारायण कृष्ण और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म शूरसेन में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक्-व्यवहार करते थे। डॉ० सुदीपजी के शब्दों में **''इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मी शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था।'' (प्राकृतविद्या,** जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ०-६)।

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी ले, तो प्रश्न यह उठता है कि अरिष्टनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्मे थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। यह सभी क्षेत्र तो मगध का ही निकटवर्ती क्षेत्र है, अत: इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी या और कोई दूसरी भाषा। भाई सुदीपजी के अनुसार यदि शौरसेनी, अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अत: शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही साबित होती है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलते; किन्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से पूर्व का कोई भी जैन ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है? पुन: नाटकों में भी भास के समय से अर्थात् ईसा की दूसरी शती से ही शौरसेनी के प्रयोग (वाक्यांश) उपलब्ध होते हैं।

जब नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है तब मैं विनम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का है? यदि नहीं तो फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है? मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत का एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें, जो अर्धमागधी आगमों और मागधी प्रधान अशोक, खारवेल आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्ट्री प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं,

उसमें हाल की 'गाथासप्तशती' ई०सन् की लगभग प्रारम्भिक शतियों में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ से वह लगभग प्राचीन है।

पुनः मैं डॉ० सुदीपजी के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा— वे **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६ में लिखते हैं कि दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी प्राकृत में हैं,जिससे 'मागधी' आदि प्राकृतों का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में मेरा उनसे निवेदन है कि मागधी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः शौरसेनी' (प्राकृत प्रकाश, ११/२) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है और वे स्वयं भी शौरसेनी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' (-प्राकृत प्रकाश १२/२) इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृतिः' का 'जन्मदात्री'- ऐसा अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी के ग्रन्थों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई हो तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ का उल्लेख क्यों नहीं है? श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी सन्दर्भ दिखा दें जिनमें 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार', 'षट्खण्डागम', 'तिलोयपण्णत्ति', 'प्रवचनसार', 'समयसार', 'नियमसार' आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि (तेरहवीं शती) ने मात्र 'समयपाहुड' का उल्लेख किया है, इसके विपरीत 'मूलाचार', 'भगवती-आराधना' और 'षट्खण्डागम' की टीकाओं में एवं 'तत्त्वार्थसूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक', 'श्लोकवार्तिक' आदि सभी दिगम्बर टीकाओं में (श्वेताम्बर अर्धमागधी) आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। 'भगवती-आराधना' की टीका में तो 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'कल्पसूत्र' तथा 'निशीथसूत्र' से अनेक अवतरण भी दिये गये हैं। 'मूलाचार' में न केवल अर्धमागधी आगमों का उल्लेख है, अपितु उनकी सैकड़ों गाथाएँ भी हैं। 'मूलाचार' में 'आवश्यकनिर्युक्ति', 'आतुरप्रत्याख्यान', 'महाप्रत्याख्यान', 'चन्द्रवेध्यक', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द-रूपों में यथावत् पायी जाती हैं।*

दिगम्बर-परम्परा में जो प्रतिकमणसूत्र उपलब्ध है, उसमें 'ज्ञातासूत्र' के उन्हीं १९ अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्तमान में श्वेताम्बर-परम्परा के 'ज्ञाताधर्मकथा' में उपलब्ध हैं। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी-आगम या

---

*. इस सम्बन्ध में मैंने जो अध्ययन किया है उसके आधार पर यह भी पूर्णतः सम्भावित है कि ऐसे श्वेताम्बर और दिगम्बर रचनाओं की गाथाओं के मूल में एक ही प्राचीन समान आधार रहा होगा और दोनों परम्पराओं में उनका भाषिक स्वरूप अपने-अपने ढंग से बदल गया होगा। प्रो० डॉ० ए०एन० उपाध्ये का भी यही अभिप्राय है। -के०आर० चन्द्र

आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि अर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं तो फिर शौरसेनी और उस भाषा में रचित साहित्य अर्धमागधी आगमों से प्राचीन कैसे हो सकता है?

आदरणीय टाँटियाजी के माध्यम से यह बात भी उठायी गयी कि मूलतः आगम शौरसेनी में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि महावीर के संघ का उद्‌भव मगधदेश में हुआ और वहीं से वह दक्षिणी एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में फैला। अतः आवश्यकता हुई अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तरण की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी रूपान्तर की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए, न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अतः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना द्वारा मात्र तथ्यहीन तर्क करना कहाँ तक उचित होगा?

बुद्ध-वचनों की मूल भाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी

शौरसेनी को मूल भाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो० नथमल टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि **''शौरसेनी पालि भाषा की जननी है, यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे जिनको जला दिया गया और फिर पालि में लिखा गया।'' —प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ० १० ।

टाँटियाजी जैसा बौद्धविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोल-कल्पित बात कैसे कह सकता है? यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है? जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्ध-वचन शौरसेनी में थे। यदि ऐसा हो तो आदरणीय टाँटियाजी या भाई सुदीपजी उसे प्रस्तुत करें अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिये शोभनीय नहीं है।

यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्ध-वचन 'मागधी' में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पालि में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किञ्चित् अन्तर है, उसी प्रकार 'मागधी' और 'पालि' में भी किञ्चित अन्तर है, वस्तुतः तो पालि भगवान् बुद्ध की मूल भाषा 'मागधी' का एक संस्कारित रूप ही है, यही कारण है कि कुछ विद्वान् पालि को मागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। पालि भाषा संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही एक साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाण सिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे, क्योंकि उनकी जन्मस्थली और कार्यस्थली दोनों मगध और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही था। बौद्ध विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही बुद्ध-वचन की मूल भाषा है। इस सम्बन्ध

में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है—

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणी च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।।

अर्थात् मागधी ही मूल भाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई थी और न केवल ब्रह्मा (देवता) अपितु बालक और बुद्ध (संबुद्ध महापुरुष) भी इसी भाषा में बोलते हैं (See- The preface to the Childer's Pali Dictionary)।

इससे यही फलित होता है कि मूल बुद्ध-वचन मागधी प्राकृत भाषा में थे। पालि उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्ध-वचन लिखे गये। वस्तुत: पालि के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सकें। अत: बुद्ध-वचन मूलत: मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्ध त्रिपिटक की पालि और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो 'सुत्तनिपात' और 'इसिभासियाइं' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पालि ग्रन्थों की एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पालि में ग्रन्थ रचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है तो वे अर्धमागधी एवं पालि ही हैं, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का नहीं है जबकि पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई०पू० तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृतिः शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी या अर्धमागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं वे अपने कथन का आधार वररुचि (लगभग ७वीं शती) के प्राकृत-प्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग १२वीं शताब्दी) के प्राकृत-व्याकरण के निम्न सूत्रों को बनाते हैं—

अ. १. प्रकृति: शौरसेनी (१०/२)
अस्या: पैशाच्या: प्रकृति: शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तत्तितव्यम्।

२. प्रकृति: शौरसेनी (११/२)
अस्या: मागध्या: प्रकृति: शौरसेनीति वेदीतव्यम्।

-वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश'

ब. १. शेषं शौरसेनीवत् (८/४/३०२)
मागध्यां यदुक्तं, ततोअन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।

२. शेषं शौरसेनीवत् (८/४/३२३)
पैशाच्यां यदुक्तं, ततो अन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।

३. शौरसेनीवत् (८/४/४४६)
अपभ्रंशे प्राय: शौरसेनीवत् कार्यं भवति।
अपभ्रंशभाषायां प्राय: शौरसेनीभाषातुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी-भाषाया: ये नियमा: सन्ति तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते।
-हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण'

अत: इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में 'प्रकृति' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं, तो निश्चित ही इन सूत्रों से यह फलित होता है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ; किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले तथा मागधी और पैशाची को उससे उद्भूत मानने वाले ये विद्वान् वररुचि के उस सूत्र को भी उद्धृत क्यों नहीं करते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बतायी गयी है, यथा- "शौरसेनी- १२/१, टीका- शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्य-लक्षणाभ्यां स्फुटीक्रियते इत्यवगन्तव्यम्। अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेद समाप्ते: १२/१ प्रकृति: संस्कृतम्- १२/२; टीका- शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृति: संस्कृतम्। -प्राकृतप्रकाश (१२/२)" अत: उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार 'प्रकृति' का अर्थ उद्गम स्थल करने पर उसी 'प्राकृत-प्रकाश' के आधार पर यहभी मानना होगा कि मूल भाषा संस्कृत थी और उसी में से शौरसेनी उत्पन्न हुई। क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार हैं? भाई सुदीपजी, जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और 'प्रकृति: शौरसेनी' के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी 'प्रकृति: संस्कृतम् -प्राकृत-प्रकाश, १२/२' के आधार पर यह मानने को तैयार क्यों नहीं कि 'प्रकृति' का अर्थ उससे उत्पन्न हुई, ऐसा है। वे स्वयं लिखते हैं "आज जितने भी प्राकृत व्याकरणशास्त्र उपलब्ध है, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के मॉडल पर निर्मित हैं। अतएव उनमें 'प्रकृति: संस्कृतम्' जैसे प्रयोग देखकर कतिपय जन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई हो- ऐसा अर्थ कदापि नहीं है— **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ० १४। भाई सुदीपजी जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप 'प्रकृति' का अर्थ 'आधार/मॉडल' करें और जब मागधी का प्रश्न आये तब आप 'प्रकृति: शौरसेनी' का अर्थ मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई, ऐसा करें— यह दोहरा मापदण्ड क्यों? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और

मागधी को अर्वाचीन बताने के लिये। वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें मूलभाषा कौन-सी है?''

संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूल भाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है। प्राकृत शब्दों एवं शब्द-रूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है उसे ही संस्कृत कहा जा सकता है और जिसे संस्कारित न किया गया हो वह संस्कृत कैसे होगी? वस्तुतः प्राकृत स्वाभाविक या सहज बोली है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूल भाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्राचार्य के पूर्व नमिसाधु ने रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—

सकलजगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादि, वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृतं प्राकृतम्, बालमहिलादिसुबोध-सकलभाषा-निन्धनभूत-वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कार-करणात् च समासादित-विशेषं सत् संस्कृतादुत्तरभेदोनाम्नोंति। —काव्यालङ्कार टीका, नमिसाधु २/१२

अर्थात् जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज वचन व्यापार है, उससे निःसृत भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि के लिये भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक् कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है वह तो मेघ से निर्मुक्त जल की तरह सहज है,उसी का देश-प्रदेश के आधार पर किया गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके विभिन्न भेद अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन हैं और संस्कृत उनका संस्कारित रूप है, वस्तुतः संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आयी।

यदि हम भाषा-विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित, सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा है। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यहभी मानना होगा कि मानवजाति अपने आदिकाल में व्याकरणशास्त्र के नियमों से संस्कारित संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से वह अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएँ निर्मित हुईं। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात् संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ; किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ अस्तित्व में आईं अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है। वस्तुत: इस विवाद के मूल में साहित्यिक भाषा और लोकभाषा अर्थात् बोली के अन्तर को नहीं समझ पाना है। वस्तुत: प्राकृतें अपने मूल स्वरूप में भाषाएँ न हो कर बोलियाँ रही हैं यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं, अपितु बोली-समूह का नाम है। जिस प्रकार प्रारम्भ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ,उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप में संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ। अत: यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृतें मूल एवं प्राचीन हैं और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक सर्वसाधारण (Common) भाषा के रूप में हुआ। प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत भाषा है। बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है। भाषा से बोली का विकास नहीं होता है। विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित किया गया तो उनसे विभिन्न सामान्यत: साहित्यिक प्राकृतों (भाषाओं का) का जन्म हुआ। जैसे मागधी बोली से मागधी प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ। प्राकृत के मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भेद तत्-तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी प्राकृत विशेष से। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं है। साथ ही साथ उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिये अलग-अलग मॉडल अपनाये गये हैं। वररुचि के लिये शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, जबकि हेमचन्द्र के लिये शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अत: 'प्रकृति' का अर्थ आदर्श या मॉडल है। अन्यथा हेमचन्द्र के शौरसेनी के सम्बन्ध में 'शेषं प्राकृतवत्' (८/४/२८६) का अर्थ होगा शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो शौरसेनी के पक्षधरों को कदापि मान्य नहीं होगा।

क्या अर्धमागधी आगम मूलत: शौरसेनी में थे?

प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च १९९६ के सम्पादकीय में डॉ० सुदीपजी जैन ने प्रो० टाँटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि "श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमश: अर्धमागधी के रूप में बदल गया।" इस सन्दर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत में था तो फिर वर्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी की मुख्य विशेषता मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रभाव तो दिखायी देता। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि दिगम्बर-परम्परा में मान्य शौरसेनी आगम साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव हैं और इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा

हम पूर्व में कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो० ए०एन० उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'प्रवचनसार' की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं। इसमें स्वर-परिवर्तन, मध्यवर्ती व्यञ्जनों के परिवर्तन 'य्' श्रुति इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं। दूसरे वरिष्ठ दिगम्बर-परम्परा के विद्वान् प्रो० खडबडी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक ओर दिगम्बर विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का प्रभाव है वहाँ पर यह कैसे माना जा सकता है कि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं। पुन: अर्धमागधी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों में जो भ्रान्ति प्रचलित रही है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। सम्भवत: ये विद्वान् अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाये हैं तथा सामान्यत: अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे हैं। यही कारण है कि डॉ० उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य्' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं, जबकि वह मूलत: महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का। अर्धमागधी तो मध्यवर्ती 'त्' यथावत् रहता है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम से परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की 'य्' श्रुति का प्रभाव आया है; किन्तु यह मानना पूर्णत: मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के समय क्रमश: शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों से प्रभावित हुए हैं।

टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करें कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए हैं, यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टाँटियाजी का यह कथन कि 'पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलत: शौरसेनी में थे और फिर पालि और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए' यह यदि सत्य है तो उन्हें या सुदीपजी को इसके प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए।

वस्तुत: जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का स्वरूप दिया जाता है, तो एकरूपता के लिये नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और ये नियम भाषा के व्याकरण के द्वारा बनाये जाते है। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिये भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यत: संस्कृत से गृहीत किये गये। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बतायी जाती है तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस

भाषा के शब्दरूप माने गये हैं? उदाहरण के तौर पर जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श, अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्द-रूप हैं।

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है, जब साहित्य भाषा बन जाती है तब उसके लिये व्याकरण के नियम बनाये जाते हैं और ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्द-रूपों के आधार पर उस भाषा के शब्द-रूपों को समझाते हैं। वे ही उसकी प्रकृति कहलाते हैं। यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की 'प्रकृति' संस्कृत मानने का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं वे संस्कृत शब्द-रूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ पर भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिये नहीं बनाया गया, अपितु उनके लिये बनाया गया, जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो तो तदर्थ उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि प्राकृत का कौन-सा शब्दरूप संस्कृत के किसी शब्द से कैसे निष्पन्न हुआ है?

इसलिए जो भी प्राकृत व्याकरण निर्मित किये गये वे अपरिहार्य रूप से संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्द या शब्द-रूपों की व्याख्या करते हैं और संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब मागधी, पैशाची या अपभ्रंश की 'प्रकृति' शौरसेनी को कहा जाता है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों को आधार मानकर समझाया गया है। 'प्राकृतप्रकाश' की टीका में वररुचि ने स्पष्टत: लिखा है- शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति: संस्कृतम् (१२/२) अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द है उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं- तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं जो किसी देश विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त रहे हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिये व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं जो संस्कृत शब्दों से निर्मित है। जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम कहलाते हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं— प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूल शब्द से जो शब्दरूप बना है वह तद्भव है। प्राकृत व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसे बना है, इसकी व्याख्या करता है। अत: यहाँ संस्कृत को 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि तद्भव शब्दों के सन्दर्भ में संस्कृत शब्द को आदर्श मानकर या मॉडल मानकर

यह व्याकरण लिखा है। अत: प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल या आधार है। संस्कृत शब्दरूप को मॉडल/आदर्श मानना इसलिए आवश्यक था कि संस्कृत के जानकार विद्वानों को दृष्टि में रखकर या उनके लिये ही प्राकृत व्याकरण लिखे गये थे। जब डॉ० सुदीपजी शौरसेनी के सन्दर्भ में 'प्रकृति: संस्कृतम्' का अर्थ मॉडल या आदर्श करते हैं तो उन्हें मागधी, पैशाची आदि के सन्दर्भ में 'प्रकृति: शौरसेनी' का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी का मॉडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा है- इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्राचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है अत: इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन कौन ? अर्धमागधी या शौरसेनी

इस सन्दर्भ में टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि "यदि वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से १५०० वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही ५०० ई० से परवर्ती मानना पड़ेगा।" ज्ञातव्य है कि यहाँ महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अन्तर को न समझते हुए एक भ्रान्ति को खड़ा किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त्' मध्यवर्ती प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं, उससे निःसन्देह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'त' रहता था और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है। यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री (जिसे दिगम्बर विद्वान् भ्रान्ति से अर्धमागधी कह रहे हैं) में बदले गये तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द'कार प्रधान पाठ क्यों उपलब्ध नहीं हो रहे हैं जो शौरसेनी की विशेषता है। इस प्रसंग में डॉ० टाँटियाजी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी 'आचाराङ्गसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टाँटियाजी से और भाई सुदीपजी से साग्रह निवेदन करूँगा कि वे आचाराङ्ग, ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग आदि की किन्हीं भी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' पाठ दिखला दें। प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिल रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के हैं। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान रूप में मिलते हैं।

वस्तुत: इन प्राचीन प्रतियों में न तो मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' देखा जाता है और "न्" के स्थान पर "ण्" की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसे व्याकरण में शौरसेनी की

विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है, न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर अपितु शौरसेनी के आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य्' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पन्द्रह सौ वर्षों से पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व ही नहीं था?

डॉ० सुदीपजी द्वारा टाँटियाजी के नाम से उद्धृत यह कथन कि '१५०० वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था' पूर्णतः भ्रान्त है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित जैसे आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई०पू० तीसरी-चौथी शताब्दी या उससे भी पूर्वकाल का माना है। क्या उस समय ये आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे? ज्ञातव्य है कि मध्यवर्ती त् के स्थान पर 'द्' और 'ण्'कार की प्रवृत्ति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था अन्यथा अशोक और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी के वैशिष्ट्य वाले शब्दरूप उपलब्ध होने चाहिए थे। क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है, जो ई०पू० में लिखा गया हो? सत्य तो यह है कि भास (ईसा की दूसरी शती) के नाटकों के अतिरिक्त ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। इससे प्रतिकूल मागधी और अर्धमागधी के अभिलेख ई०पू० तीसरी शताब्दी से उपलब्ध हो रहे हैं। पुनः यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहे हैं उसे महाराष्ट्री भी मान लें तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्राथमिक शताब्दियों के उपलब्ध होते हैं। सातवाहन हाल की गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ है, साथ ही यह माना जाता है कि यह ईसा की प्रथम से तीसरी शती के मध्य तक रचित है। पुनः यह भी एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गयी हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ रचे गये थे। कालिदास के नाटकों जिनमें भी शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, वे भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही माने जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से अपितु परवर्ती 'य्' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं।* षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग ५वीं शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि

*. देखिए, डॉ० हीरालाल (स्वयं एक दिगम्बर विद्वान्) जैन की 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', भोपाल, १९६२, पृ० ८३

अर्धमागधी आगमों में ये अवधारणाएँ अनुपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। अन्ततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगम नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और शौरसेनी आगम ईसा की ५वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीपजी पहले मागधी और पालि तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को एवं इनके प्रत्येक के लक्षणों को तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम को और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाणसहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलायें, व्यर्थ की आधारहीन भ्रान्तियाँ खड़ी करके समाज में कटुता उत्पन्न न करें।

●

प्राकृत विद्या में प्रो० टाँटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान के विचारबिन्दुओं की समीक्षा

डॉ० सुदीपजी ने **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६ में डॉ० टाँटियाजी के व्याख्यान में उभर कर आये १४ विचारबिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करने का दावा किया है।यहाँ उनकी समीक्षा करना इसलिए अपेक्षित है कि उनके नाम पर प्रसारित भ्रान्तियों का निरसन हो सके। नीचे हम क्रमश: एक-एक बिन्दु की समीक्षा करेंगे।

१. "प्राचीनकाल में शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी?"

प्रथम तो उत्तर और दक्षिण के कुछ दिगम्बर विद्वानों द्वारा शौरसेनी के ग्रन्थ लिखे जाने से अथवा कतिपय नाटकों में मागधी आदि अन्य प्राकृतों के साथ-साथ शौरसेनी के प्रयोग होने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी। यदि इन तर्कों के आधार पर एक बार हम यह मान भी लें कि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा थी, तो क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मागधी या महाराष्ट्री प्राकृत अखिल भारतीय भाषाएँ नहीं थीं? प्राचीन काल में तो मागधी ही अखिल भारतीय भाषा थी। यदि शौरसेनी अखिल भारतीय भाषा बनी, तो वह भी मागधी के पश्चात् ही बनी है, क्योंकि अशोक के सम्पूर्ण अभिलेख मुख्यत: मागधी में ही हैं। यह सत्य है कि उन पर तद्-तद् प्रदेशों की लोकबोलियों का प्रभाव देखा जाता है, फिर भी उससे मागधी के अखिल भारतीय भाषा होने में कोई कमी नहीं आती। वास्तविकता तो यह है कि मौर्यकाल और उसके पश्चात् जब तक सत्ता का केन्द्र पाटलिपुत्र बना रहा, तब तक मागधी ही अखिल भारतीय भाषा रही, क्योंकि वह भारतीय साम्राज्य की राजभाषा थी। जब भारत में कुषाण और शककाल में सत्ता का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर मथुरा बना, तभी शौरसेनी को राजभाषा होने का पद मिला। यद्यपि यह भी सन्देहास्पद ही है, क्योंकि ईसा पू० प्रथम शती से ईसा की दूसरी शती तक मथुरा में जो भी अभिलेख मिलते हैं, वे भी मागधी से प्रभावित ही हैं। आज तक भारत में शुद्ध शौरसेनी में एक भी अभिलेख

*. वर्तमान में टाँटियाजी का स्वर्गवास हो जाने पर यह उनके नाम से प्रसारित इन भ्रान्तियों का निरसन और भी आवश्यक हो गया है।

उपलब्ध नहीं हो सका है। अत: केवल दिगम्बर आचार्यों द्वारा शौरसेनी में ग्रन्थ रचे जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह अखिल भारतीय भाषा थी। क्या दिगम्बर-परम्परा के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त कोई एक भी ग्रन्थ ऐसा है, जो पूरी तरह शौरसेनी में लिखा गया हो, जबकि अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में श्वेताम्बर धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, अत:मागधी एवं महाराष्ट्री प्राकृत को भी उसी रूप में अखिल भारतीय भाषा मानना होगा।

२. ''शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव व लालित्य पूर्ण सिद्ध हुई।''

यह ठीक है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं में लालित्य और माधुर्य है; किन्तु उस लालित्य और माधुर्य का सच्चा आस्वाद तो 'य' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री प्राकृत में ही मिलता है। केवल नाटकों के कुछ अंश छोड़कर क्या शौरसेनी में निबद्ध एक भी लालित्यपूर्ण साहित्यिक कृति है? इसकी अपेक्षा तो महाराष्ट्री प्राकृत में 'गाथासप्तशती', 'वसुदेवहिण्डी', 'पउमचरियं', 'वज्जालग्गं', 'समराइच्चकहा', 'धूर्ताख्यान' आदि अनेकों साहित्यिक कृतियाँ हैं, अत: यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा भी महाराष्ट्री अधिक लालित्यपूर्ण भाषा है। क्या उपरोक्त महाराष्ट्री के ग्रन्थों की कोटि का शौरसेनी में एक भी ग्रन्थ है? पुन: जहाँ शौरसेनी में नाटकों के कुछ अंशों के अतिरिक्त मुख्यत: धार्मिक साहित्य ही रचा गया, वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में अनेक विधाओं के ग्रन्थ रचे गये और न केवल जैनों ने, अपितु जैनेतर लोगों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ लिखे हैं।

जहाँ तक माधुर्य का प्रश्न है 'द'कार-प्रधान और अघोष के घोष प्रयोग—होदि, आदि के कारण शौरसेनी में वह माधुर्य नहीं है, जो मध्यवर्ती कठोर व्यञ्जनों के लोप, 'य' श्रुतिप्रधान मधुर व्यञ्जनों से युक्त महाराष्ट्री में है। शौरसेनी और पैशाची तो 'संस्कृत की अपेक्षा अधिक मधुर नहीं हैं, जो माधुर्य महाराष्ट्री में है वह संस्कृत और अन्य प्राकृतों में नहीं है। महाराष्ट्री में लोप की प्रवृत्ति अधिक होने से मुखसौकर्य भी अधिक है।

शौरसेनी प्राकृत का गौरव करना अच्छी बात है, लेकिन उसे ही अधिक सौष्ठवपूर्ण मानकर दूसरी प्राकृतों को उससे नीचा मानने की वृत्ति सत्यान्वेषी विद्वत् पुरुषों को शोभा नहीं देती है।

३. ''बहुत सारी अच्छी बातें अर्धमागधी में नहीं हैं, जबकि शौरसेनी में सुरक्षित हैं, अनेक बातों का स्पष्टीकरण आज शौरसेनी के 'षट्खण्डागम' और 'धवला' से ही करना पड़ता है।''

यह सत्य है कि जैन कर्म-सिद्धान्त की अनेक सूक्ष्म विवेचनाएँ 'षट्खण्डागम' एवं उसकी 'धवला टीका' में सुरक्षित है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्धमागधी आगम साहित्य में अच्छी बातें नहीं हैं। शौरसेनी आगम-साहित्य की अपेक्षा अर्धमागधी

आगम साहित्य परिमाण में पाँच गुने से अधिक है और उसमें भी अनेक अच्छी बातें निहित हैं। सम्पूर्ण अर्धमागधी और महाराष्ट्री का साहित्य तो शौरसेनी साहित्य की अपेक्षा दस गुने से भी अधिक होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में 'आचाराङ्ग' का एक-एक सूक्त ऐसा है, जो बिन्दु में सिन्धु को समाहित करता है, क्या उसके समकक्ष का कोई ग्रन्थ शौरसेनी में है? आज 'आचाराङ्ग' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भगवान् महावीर के मूलवचन सुरक्षित हैं। यह सत्य है कि समयसार आत्म-अनात्म विवेक का और 'षट्खण्डागम' तथा उसकी 'धवला टीका' कर्म-सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती हैं; किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्धमागधी आगम में सुरक्षित जिनवचनों के आधार पर ही दिगम्बर विद्वानों ने इन सिद्धान्तों का विकास किया है और वे उससे परवर्ती हैं। पुनः यदि जैन आचार-दर्शन एवं संस्कृति के विकास के इतिहास को समझना है तो हमें अर्धमागधी साहित्य का ही सहारा लेना होगा। वे उन नींव के पत्थरों के समान हैं, जिन पर जैन-दर्शन एवं संस्कृति का महल खड़ा हुआ है। नींव की उपेक्षा करके मात्र शिखर को देखने से हम जैनधर्म और सिद्धान्तों के विकास के इतिहास को नहीं समझ सकते हैं। पुनः अर्धमागधी साहित्य में भी 'विशेषावश्यकभाष्य' जैसे गम्भीर दार्शनिक चर्चा करने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। पुनः 'बृहत्कल्पभाष', 'व्यवहारभाष्य' और 'निशीथभाष्य' जैसे जैन-आचार के उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग की तलस्पर्शी विवेचना करने वाले तथा उसके विकास-क्रम को स्पष्ट करने वाले कितने ग्रन्थ शौरसेनी में हैं? जिस धवला टीका का इतना गुणगान किया जारहा है, क्या उसकी भी इन ग्रन्थों से कोई तुलना की जा सकती है? पुनः यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शौरसेनी में निबद्ध 'कसायपाहुड' एवं 'षट्खण्डागम' भी 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना', 'जीवसमास' आदि अर्धमागधी आगमों का ही विकसित एवं परिष्कारित रूप है, क्योंकि ये ग्रन्थ उनसे पूर्ववर्ती हैं। इसी प्रकार 'धवला टीका', जो दसवीं शती की रचना है, वह भी निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों से अप्रभावित नहीं है। पुनः भाष्यों और चूर्णियों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो शौरसेनी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। 'मूलाचार' और 'भगवती-आराधना' जैसे शौरसेनी के ग्रन्थरत्न तो 'आतुरप्रत्याख्यान', 'महाप्रत्याख्यान', 'मरणविभक्ति', 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि के आधार पर ही निर्मित हैं और उनकी सैकड़ों गाथाएँ भाषिक परिवर्तन के साथ इनमें उपलब्ध हैं। अतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री के ग्रन्थों में शौरसेनी की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक अच्छी बातें हैं और उनके अभाव में जैनधर्म, दर्शन, संस्कृति और आचार के सम्यक् इतिहास को नहीं समझा जा सकता है।

४-५. "लाडनूं का हमारा सारा परिवार कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते; दोनों भाषाओं का ज्ञान परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है अतः हमें (दिगम्बर, श्वेताम्बर) मिल-जुल कर काम करना चाहिए।"

यह सत्य है कि किसी भी प्राचीन भाषा और उसके साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान के लिये उनकी समसामयिक भाषाओं तथा उनके साहित्य और परम्पराओं का ज्ञान अपेक्षित है और इस दृष्टि से आदरणीय टाँटियाजी का यह कथन कि हमारा लाडनूं का सारा परिवार यह कहता है कि शौरसेनी को जाने बिना हम अर्धमागधी को नहीं जान सकते, वह उचित ही है; किन्तु शौरसेनी आगमों पर आधारित दिगम्बर-परम्परा को भी यह नहीं भूलना चाहिए कि वे भी अर्धमागधी आगमों का सम्यक् अध्ययन किये बिना शौरसेनी आगमों के मूल हार्द को नहीं समझ सकते हैं। 'षट्खण्डागम' के प्रथम खण्ड के ९३वें सूत्र में 'संजद' पद की उपस्थिति को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि 'षट्खण्डागम' मूलत: उस यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है, जो अर्धमागधी आगमों और उनमें प्रतिपादित स्त्री-मुक्ति को मानती थी। 'मूलाचार' में 'पज्जुसणाकप्प' का सही अर्थ क्या है? इसे श्वेताम्बर आगमों के ज्ञान के अभाव में वसुनन्दी जैसे समर्थ दिगम्बर टीकाकार भी नहीं समझ सके हैं। इसी प्रकार 'भगवती-आराधना' के 'ठवणायरियो' शब्द का अर्थ पं० कैलाशचन्द्रजी जैसे दिगम्बर-परम्परा के उद्भट विद्वान् भी नहीं समझ सके और उसे अस्पष्ट कह कर छोड़ दिया, क्योंकि वे श्वेताम्बर आगमों एवं परम्परा से गहराई से परिचित नहीं थे, जबकि अर्धमागधी साहित्य का सामान्य अध्येता भी 'पर्युषणाकल्प' और 'स्थापनाचार्य' के तात्पर्य से सुपरिचित होता है। इसी प्रकार 'समयसार' के 'अपदेससुत्तमज्झं' का सही अर्थ समझना हो या 'नियमसार' के आत्मा के विवरण को समझना हो तो आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करना होगा। अत: प्राचीन एवं समसामयिक भाषाओं के साहित्य और परम्परा का ज्ञान सभी के लिये अपेक्षित है। यह बात केवल जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अन्य भारतीय परम्पराओं के सन्दर्भ में भी समझनी चाहिए। मैं स्पष्ट रूप से यह मानता हूँ कि बौद्ध पालि 'त्रिपिटक' के अध्ययन के बिना जैन आगमों का और जैन आगमों के बिना 'त्रिपिटक' का अध्ययन पूर्ण नहीं होता है। जैन और बौद्ध-परम्पराओं में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके सही अर्थ एक दूसरे के ज्ञान के बिना सम्यक्रूप से नहीं समझे जा सकते है। अर्हत् शब्द के अरहत, अरहंत, अरिहंत, अरुहंत आदि शब्द-रूप पालि और अर्धमागधी में न केवल समान है अपितु उनकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ भी दोनों परम्परा में समान हैं। आज भी जिसप्रकार 'आचाराङ्ग' और 'इसिभासियाइं' जैसे अर्धमागधी आगमों को समझने के लिये बौद्ध और औपनिषदिक परम्पराओं का अध्ययन अपेक्षित है वैसे ही षट्खण्डागम को समझने के लिये श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ- 'प्रज्ञापना', 'पञ्चसंग्रह'— जिसमें 'कसायपाहुड' भी समाहित है, और श्वेताम्बर कर्म ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' को समझना है तो बौद्धों की 'माध्यमिककारिका' अथवा हिन्दुओं की माण्डूक्यकारिका को पढ़ना आवश्यक है। दूसरी परम्परा के ग्रन्थों के अध्ययन का डॉ० टाँटियाजी का अच्छा सुझाव है; किन्तु यह किसी

एक परम्परा के लिये नहीं, अपितु दोनों के लिये आवश्यक है। श्वेताम्बर विद्वान् तो शौरसेनी साहित्य का अध्ययन भी करते हैं; किन्तु अधिकांश दिगम्बर विद्वान् आज भी अर्धमागधी साहित्य से प्राय: अपरिचित हैं। अत: उन्हें ही इस सुझाव की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

६. ''आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द के बराबर का कोई दार्शनिक आज तक हुआ ही नहीं हैं।''

यह सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र जैनदर्शन में आत्म-अनात्म विवेक को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने वाले शिखर पुरुष हैं। उनकी प्रज्ञा निश्चय ही वन्दनीय है। जैन अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में उनका जो महत्त्वपूर्ण अवदान है उसे कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है; किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि श्वेताम्बर-परम्परा में हुए दार्शनिकों और चिन्तकों का अवदान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। अनेकान्त की दर्शन जगत् में तार्किक ढंग से स्थापना के क्षेत्र में सिद्धसेन दिवाकर का, समदर्शी दार्शनिक के रूप में आचार्य हरिभद्र का और साहित्य स्रष्टा के रूप में हेमचन्द्राचार्य का जो अवदान है, उसे भी कम नहीं आंका जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी मल्लवादी, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, संघदासगणि, यशोविजयजी, आनन्दघनजी आदि अनेक शीर्षस्थ दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्पुरुष श्वेताम्बर-परम्परा में भी हुए हैं। दर्शन-जगत् में इनका महत्त्व और मूल्य कम नहीं है। जिस प्रकार अमृतचन्द्र को अमृतचन्द्र बनाने में कुन्दकुन्द का सबसे बड़ा योगदान है, उसी प्रकार कुन्दकुन्द को कुन्दकुन्द बनाने में भी सिद्धसेन दिवाकर और नागार्जुन जैसे जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। दिगम्बर विद्वानों को इसे भी नहीं भूलना चाहिए कि दिगम्बर समाज को कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र की प्रतिभा से परिचित करवाने वाले बनारसीदास, भैय्या भगवतीदास और कानजीस्वामी मूलत: श्वेताम्बर-परम्परा में ही जन्मे थे। कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र को दिगम्बर-परम्परा में सुस्थापित करने वाले श्वेताम्बर कुलोद्भूत इन अध्यात्मरसिकों का ऋण भी दिगम्बर-परम्परा को स्वीकार करना चाहिए।

७. ''श्वेताम्बरों के समस्त आचार्यों का निचोड़ 'धवला' ग्रन्थ में मिल जाता है इसके जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं।''

भाई सुदीपजी, डॉ० टाँटियाजी के इस कथन का सीधा तात्पर्य तो यह है कि यदि 'धवला' में श्वेताम्बर आचार्यों के विचारों का निचोड़ है, तो वह श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ है, इसे भी स्वीकार करना होगा और धवलाकार को श्वेताम्बर आचार्यों का ऋणी भी होना पड़ेगा; लेकिन यह कथन केवल एक अतिशयोक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'धवला' में मुख्यत: तो पूर्ववर्ती श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्म ग्रन्थों में वर्णित विषय का ही निचोड़ है। इसके अलावा अधिकतर दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी समस्याएँ तो उसमें केवल सतही (ऊपरी) स्तर पर ही वर्णित हैं। क्या अनेकान्त

की स्थापना की दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क' और उसकी टीका में अथवा 'नयचक्र' और सिंहसूरि की उसकी टीका में अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य' और उसकी चूर्णी में अथवा 'बृहत्कल्प', 'व्यवहार' और 'निशीथ' के भाष्य एवं चूर्णियों में जैन आचार की गूढ़तम समस्याओं के सन्दर्भ में जो गम्भीर विवेचन है, वह क्या 'धवला' में उपलब्ध है?

एक सामान्यजन को तो ऐसे कथनों से भ्रमित किया जा सकता है; किन्तु उन विद्वानों को जिन्होंने दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया हो, ऐसे अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों से भ्रमित नहीं किया जा सकता है। प्रो० टाँटियाजी ने चाहे यह बात दिगम्बर आचार्यों और जनसाधारण को खुश करने की दृष्टि से कह भी दी हो तो क्या वे अपने इस कथन को अन्तरात्मा से स्वीकार करते हैं?

पुन: यह कथन कि 'धवला जैसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं' यह भी चिन्त्य है। वैसे तो प्रत्येक ग्रन्थ अपनी विषयवस्तु या शैली आदि की अपेक्षा से अपने आप में विशिष्ट होता है अत: उसकी तुलना किसी अन्य परम्परा के ग्रन्थों से करके उन्हें निकृष्ट ठहरा देना एक निरर्थक प्रयास ही होगा? यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि 'धवला' अपने आप में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है वह तो 'षट्खण्डागम' के पाँच खण्डों की टीका है। उसका वैशिष्ट्य केवल कर्म-सिद्धान्त की विवेचना की दृष्टि से ही है। यदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को एक ओर छोड़ भी दें तो क्या 'धवला' और 'समयसार' में कोई तुलना की जा सकती है? क्या 'समयसार', 'धवला' की अपेक्षा निम्न कोटि का ग्रन्थ है? दूसरी परम्परा के ग्रन्थों को निम्न कोटि का बताने के लिये इस प्रकार की वाक्यावलियों का प्रयोग उचित नहीं है। क्या टाँटियाजी की दृष्टि में 'भगवतीसूत्र', 'प्रज्ञापना', 'सन्मतितर्क' और उसकी टीका अथवा 'विशेषावश्यकभाष्य', 'धवला' की अपेक्षा निम्न कोटि के ग्रन्थ हैं? किसी भी ग्रन्थ के सापेक्षित वैशिष्ट्य को स्वीकार करना एक बात है; किन्तु निरपेक्ष रूप से उसे सर्वोपरि घोषित कर देना अनेकान्त के उपासकों के लिये उचित नहीं है।

८. ''शौरसेनी पालि भाषा की जननी है– यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया।''

यद्यपि इस कथन की समीक्षा हम पूर्व लेख में कर चुके हैं*, फिर भी स्पष्टता के लिये दो-तीन बातें बताना आवश्यक है।

मेरा प्रथम प्रश्न तो यह है कि 'द'कार और 'ण'कार प्रधान शौरसेनी जो दिगम्बर

*. देखें इसी ग्रन्थ में प्रकाशित मेरा लेख— जैन आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी या शौरसेनी.

आगम ग्रन्थों अथवा नाटकों में मिलती है वह तो तीसरी शताब्दी के पूर्व कहीं उपलब्ध ही नहीं है, जबकि बौद्ध त्रिपिटक पालि भाषा में उसके पूर्व लिखे जा चुके थे। क्या कोई भी परवर्ती भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा की जननी हो सकती है? क्या आदरणीय टाँटियाजी और सुदीपजी किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें यह कहा गया हो कि शौरसेनी से पालि भाषा का जन्म हुआ? पुनः क्या इस बात का भी कोई प्रमाण है कि पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और फिर उनको पालि में लिखा गया। आचार्य बुद्धघोष के प्रामाणिक कथन के आधार पर हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध-वचन मूलतः मागधी में थे—

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणो च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।।*

अतः यह कहना तो सम्भव है कि मागधी पालि भाषा की जननी है; किन्तु यह कथमपि सम्भव नहीं है कि परवर्ती शौरसेनी पूर्ववर्ती मागधी या पालि भाषा की जननी है— यह तो पौत्री को माता बनाने जैसा प्रयास है। यह बात तो बौद्ध विद्वानों ने स्वीकार की है कि जो बुद्ध-वचन पहले मागधी में थे, उन्हें पालि में रूपान्तरित किया गया; किन्तु यह तो किसी ने भी आज तक नहीं कहा कि बुद्ध-वचन पहले शौरसेनी में थे और उन्हें जलाकर फिर पालि में लिखा गया। यदि इस सम्बन्ध में उनके पास कोई प्रमाण हो तो प्रस्तुत करें। मुझे तो ऐसा लगता है कि आदरणीय टाँटियाजी ने मात्र यह कहा होगा कि प्राकृत (मागधी) पालि भाषा की जननी है और पहले बौद्धों के ग्रन्थ प्राकृत में थे, उनको जला दिया गया और पालि भाषा में लिखा गया है। यहाँ प्राकृत के स्थान पर शौरसेनी शब्द की योजना भाई सुदीपजी ने स्वयं की है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। प्रो० टाँटियाजी जैसे बौद्ध विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी आधारहीन बातें कर सकते हैं— यह विश्वसनीय नहीं लगता है। डॉ० सुदीपजी ने इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ की है। इसका प्रमाण यह है कि **प्राकृतविद्या**, जनवरी-मार्च १९९६ में उन्होंने टाँटियाजी के नाम से लिखा है कि "बौद्धों ने बाद में ... योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध साहित्य का मागधीकरण किया और शौरसेनी निबद्ध बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात कर दिया गया" जबकि **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६ में लिखा है कि "बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया।" इस प्रकार सुदीपजी टाँटियाजी के नाम से एक जगह लिखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थों का मागधीकरण किया गया जबकि दूसरी जगह लिखते हैं कि पालि में लिखा गया— इन दोनों में सच क्या है? टाँटियाजी ने तो कोई एक ही बात कही होगी। मागधी और पालि दोनों अलग-अलग भाषाएँ हैं। सत्य तो यह है कि बौद्ध साहित्य मागधी से पालि में लिखा गया था न कि शौरसेनी से पालि में। इससे यह भी सिद्ध

*. Preface to R.S. Childer's A dictionary of the Pali Language.' P.xiii.

हो जाता है कि सुदीपजी ने टाँटियाजी के शब्दों में तोड़-मरोड़ की है।

९. "कर्म-सिद्धान्त के बहुत से रहस्यों को जब हम (श्वेताम्बर) नहीं समझ पाते हैं, तब हम 'षट्खण्डागम' के सहारे से ही उनको समझते हैं। 'षट्खण्डागम' में कर्म-सिद्धान्त के समस्त कोणों को बड़े वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है।"

यह सत्य है कि 'षट्खण्डागम' में जैन कर्म-सिद्धान्त का गम्भीर एवं विशद विवेचन है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कर्म-सिद्धान्त के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिये श्वेताम्बरों को भी कभी-कभी उसका सहारा लेना होता है; किन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'षट्खण्डागम' मूलत: दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ न होकर उस विलुप्त यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, जो अर्धमागधी आगमों और उनमें प्रतिपादित स्त्री-मुक्ति के सिद्धान्त को मान्य रखता था, जिसका प्रमाण उसके प्रथम खण्ड का ९३वाँ सूत्र है जिसमें से 'संजद' शब्द के प्रयोग को हटाने का दिगम्बर विद्वानों ने उपक्रम भी किया था और प्रथम संस्करण को मुद्रित करते समय उसे हटा भी दिया था, यद्यपि बाद में उसे रखना पड़ा, क्योंकि उसे हटाने पर उस सूत्र की धवला टीका गड़बड़ा जाती थी। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपनी पुस्तक "जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय" के तृतीय अध्याय में की है और प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना बता देना पर्याप्त है कि यह 'षट्खण्डागम' मूलतः 'प्रज्ञापना' आदि अर्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुआ है और इसके प्रथम खण्ड की 'जीवसमास' की विषयवस्तु से बहुत कुछ समरूपता है और दोनों एक ही काल की कृतियाँ हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'जीवसमास' की भूमिका में किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि 'षट्खण्डागम' में प्रतिपादित जैन कर्म-सिद्धान्त के इतिहास को समझने के लिये अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर कर्म साहित्य का अध्ययन भी उतना ही जरूरी है जितना 'षट्खण्डागम' का। मैं स्वयं भी जैन कर्म-सिद्धान्त के विकसित स्वरूप के गम्भीर विवेचन की दृष्टि से 'षट्खण्डागम' के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार करता हूँ; किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अर्धमागधी आगमों एवं श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा प्रणीत प्राचीन कर्म-साहित्य को नकार दिया जावे।

१०. "हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' 'धवला' से है। 'धवला' समस्त जैनदर्शन और ज्ञान का अगाध भण्डार है। 'धवला' में क्या नहीं है?"

हरिभद्रसूरि का सारा 'योगशतक' 'धवला' से है इस कथन का अर्थ यह है कि हरिभद्र ने 'योगशतक' को 'धवला' से लिया है। यह विश्वास नहीं होता कि टाँटियाजी जैसे प्रौढ़ विद्वान् को जैन इतिहास का इतना भी बोध नहीं है कि 'धवला' और हरिभद्र के 'योगशतक' में कौन प्राचीन है? अनेक प्रमाणों से यह सुस्थापित हो चुका है कि 'धवला' की रचना नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई जबकि

हरिभद्र आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। सत्य तो यह है कि हरिभद्रसूरि के 'योगशतक' से धवलाकार ने लिया है, अत: टाँटियाजी जैसे विद्वान् के नाम से ऐतिहासिक सत्य को भी उलट देना कहाँ तक उचित है? धवलाकार ही हरिभद्रसूरि के ऋणी हैं, हरिभद्रसूरि धवलाकार के ऋणी नहीं हैं।

यह सत्य है कि 'धवला' में अनेक बातें संकलित कर ली गयी हैं; किन्तु अनेक तथ्यों का संकलन करने मात्र से कोई ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता है। पुन: यह कहना कि 'धवला' में क्या नहीं है, एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन के अलावा कुछ नहीं है। जैन विद्या के अनेक पक्ष ऐसे हैं जिनकी 'धवला' में कोई चर्चा ही नहीं है। 'धवला' मूलत: 'षट्खण्डागम' की टीका है, जो जैन कर्म-सिद्धान्त का ग्रन्थ है अत: उसका भी मूल प्रतिपाद्य तो जैन कर्म-सिद्धान्त ही है, अन्य विषय तो प्रसंगवश समाहित कर लिये गये हैं। 'धवला' में क्या नहीं है? इस कथन का यह आशय लगा लेना कि 'धवला' में सब कुछ है, एक भ्रान्ति होगी। 'प्रवचनसारोद्धार' आदि अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों का विषय वैविध्य 'धवला' से भी अधिक है।

११. ''आचार्य वीरसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य का गहन अवलोकन किया था।''

आचार्य वीरसेन एक बहुश्रुत विद्वान् थे, यह मानने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु वही एकमात्र बहुश्रुत विद्वान् हुए हों, ऐसा भी नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में ऐसे अनेक बहुश्रुत विद्वान् हुए हैं। पुन: उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य का अध्ययन किया हो, यह मानने में भी किसी को बाधा नहीं हो सकती है; किन्तु यह कहना कि उन्होंने समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य का गहन अवलोकन किया था, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ही है। 'धवला' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो श्वेताम्बर-परम्परा और उसके ग्रन्थों से उनके परिचित न होने का संकेत करते हैं। साथ ही उनके काल तक श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य इतना विपुल था कि उस सबका गहन अध्ययन कर लेना एक व्यक्ति के लिये किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं था। अधिक तो क्या? जिस यापनीय-परम्परा के ग्रन्थ पर उन्होंने टीका लिखी उसकी अनेक मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने कोई संकेत तक नहीं दिया। उस युग के श्वेताम्बर आगमों, यापनीय ग्रन्थों और स्वयं अपनी ही परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में धवलाकार का ज्ञान कितना सीमित था यह तो उनकी टीका से ही स्पष्ट है।

१२. ''जैन-दर्शन का हर विषय क्रमबद्ध (systematic) रूप में शौरसेनी साहित्य में प्राप्त होता है।''

यह सत्य है कि शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन से सम्बन्धित जिन विषयों की

विवेचना की गयी है, वह अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है; किन्तु इसका कारण यह है कि शौरसेनी साहित्य जिस काल में निर्मित हुआ उस काल तक जैनदर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से विकसित हो चुके थे। किसी भी सिद्धान्त का विकास एक कालक्रम में होता है। क्रमबद्धता और व्यवस्था तो उस अन्तिम स्थिति की परिचायक है जब वह सिद्धान्त अपने विकास की चरम अवस्था में पहुँच जाता है। शौरसेनी साहित्य में जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्त व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होते हैं, यह तो इस तथ्य का सूचक है कि शौरसेनी साहित्य अर्धमागधी आगम साहित्य से परवर्ती है और उसी के आधार पर निर्मित हुआ है। परवर्तीकालीन रचनाओं की यह विशेषता होती है कि वे अपने पूर्वकालीन रचनाओं की कमियों का निराकरण कर अपने विषय को अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती हैं। अत: शौरसेनी साहित्य में वर्णित विषयों का अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध होना इसी तथ्य का सूचक है कि वे अर्धमागधी आगमों से परवर्ती हैं। पुन: इस कथन का यह आशय भी नहीं समझना चाहिए कि अर्धमागधी साहित्य में क्रमबद्धता और व्यवस्था का अभाव है। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी श्वेताम्बर-परम्परा की अनेक परवर्तीकालीन रचनाओं में भी ऐसी ही व्यवस्था और क्रमबद्धता उपलब्ध होती है। सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रगणि, हरिभद्र, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र आदि की रचनाओं में भी ऐसी ही विषय की सुसम्बद्धता एवं सुस्पष्टता है।

१३. ''श्वेताम्बर और दिगम्बर'' दोनों एक दूसरे के सहायक बनिये।

आदरणीय टाँटियाजी का यह सुझाव तो हम सभी को स्वीकार करने योग्य है। वस्तुत: यदि हमें जैन धर्म-दर्शन के समग्र स्वरूप को समझना या प्रस्तुत करना है, तो परस्पर एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है, क्योंकि दोनों परम्पराएँ परस्पर मिलकर ही जैनधर्म और संस्कृति का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकती हैं; किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दूसरे की आलोचना अथवा दूसरे को हेय मानकर अपनी श्रेष्ठता का बढ़-चढ़ कर दावा करना, इस दिशा में कथमपि सहायक नहीं हो सकेगा। हमें अपनी परम्पराओं की विशेषता को उजागर करने का अधिकार तो है; किन्तु दूसरे पक्ष को हीन या नीचा दिखाकर नहीं। हमें अपनी बातों को इस तरह से प्रस्तुत करना चाहिए कि वे दूसरे की अस्मिता और गरिमा को खण्डित न करें। अपेक्षा तो यह भी की जानी चाहिए कि हम दूसरे पक्ष में निहित अच्छाइयों को भी स्वीकार करने के लिये तत्पर रहें और इस प्रकार अपनी उदार दृष्टि का परिचय दें। प्रो० टाँटियाजी ने शौरसेनी साहित्य और दिगम्बर-परम्परा की अच्छाइयों को उजागर करके अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है; किन्तु उसे तोड़-मरोड़ कर इस तरह क्यों प्रस्तुत किया जा रहा है कि जिससे अर्धमागधी साहित्य और श्वेताम्बर समाज की अस्मिता को आघात लगे।

१४. "इस व्याख्यान में टाँटियाजी ने धवला, षट्खण्डागम, वीरसेन, कुन्दकुन्द, मूलाचार, आत्मख्याति, अमृतचन्द्र आदि की भी खुलकर प्रशंसा की।"

निश्चय ही 'षट्खण्डागम', उसकी 'धवला' टीका और टीकाकार वीरसेन का जैन कर्म-सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण अवदान है, जिसे जैन दर्शन का कोई भी अध्येता अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' और अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' टीका के कलशों का जैन दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण अवदान है उसके आधार पर उन्हें जैन अध्यात्मरूपी मन्दिर का स्वर्णकलश कह सकते हैं। आदरणीय टाँटियाजी ने उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की प्रशंसा कर अपनी उदारता का परिचय दिया है और इस प्रकार अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है। जैन विद्या का कोई भी तटस्थ विद्वान् इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के महत्त्व और मूल्य को अस्वीकार नहीं करेगा; किन्तु भाई सुदीपजी को इस प्रशंसा का यह आशय नहीं लगाना चाहिए कि केवल दिगम्बर-परम्परा में या केवल शौरसेनी साहित्य के क्षेत्र में ही उच्चकोटि के विद्वान् हुए हैं और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में भी सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, जिनभद्रगणि, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि अनेक विद्वान् हुए हैं और उनकी रचनाओं का भी महत्त्व एवं मूल्य कम नहीं हैं।

यदि **प्राकृतविद्या** को वस्तुत: प्राकृतविद्या का नाम सार्थक करना है तो उसे प्राकृत की विभिन्न विधाओं यथा अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश सभी को समान रूप से महत्त्व देना चाहिए। यदि उन्हें केवल शौरसेनी का ही गुणगान करना है और दूसरी प्राकृतों को हेय दिखाना है तो पत्रिका का नाम **शौरसेनी प्राकृतविद्या या शौरसेनी विद्या** रख लेना चाहिए। केवल शौरसेनी ही प्राकृत है, उसी से समस्त प्राकृतों का जन्म हुआ है और उसी में ही सत्साहित्य का सर्जन हुआ है, ऐसा कथन सत्य नहीं है। प्राकृत की अन्य विधाओं में भी उत्तम कोटि के ग्रन्थ लिखे गये हैं और शीर्षस्थ विद्धान् हुए हैं। अत: उन्हें हेय समझ कर किसी भी प्रकार की अनभिज्ञता और अज्ञानता को बीच में लाकर प्राकृतविद्या के महत्त्व को घटाने का उपक्रम नहीं होने देना चाहिए।

मैं **प्राकृतविद्या** के सम्पादक भाई सुदीपजी से यह निवेदन करना चाहूँगा कि या तो वे आदरणीय टाँटियाजी के व्याख्यान की टेप को अविकल रूप से यथावत् प्रकाशित कर दें या उस टेप को जो चाहें उन्हें उपलब्ध करा दें ताकि उसे प्रकाशित करके यह निरर्थक विवाद समाप्त किया जा सके।

●

शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में प्रो० भोलाशंकर व्यास की स्थापनाओं की समीक्षा

'प्राकृतविद्या' के सम्पादक डॉ० सुदीप जैन ने प्रो० भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान में उभरकर आये कुछ विचार-बिन्दुओं को 'प्राकृत-विद्या', जनवरी-मार्च १९९७ के अपने सम्पादकीय में प्रस्तुत किया है। हम यहाँ सर्वप्रथम प्रो० भोलाशंकर व्यास के नाम से प्रस्तुत उन विचार-बिन्दुओं को अविकल रूप से देकर फिर उनकी समीक्षा करेंगे। डॉ० सुदीप जैन लिखते हैं कि-

''प्राकृत भाषा इस देश की मूल भाषा रही है और प्राकृत के विविध रूपों में भी शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का 'क्षेत्रीयसंस्करण' थी। शौरसेनी प्राकृत मध्य देश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य-सृजन होता रहा है इसीलिए शौरसेनी प्राकृत ही अन्य सभी प्राकृतों एवं लोकभाषाओं की जननी रही है। पहिले मूल दो ही प्राकृतें थी--शौरसेनी और मागधी। परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है। 'महाराष्ट्री' का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व मैं नहीं मानता। यही नहीं, 'अर्धमागधी' प्राकृत, जो कि मात्र श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में ही मिलती है, का आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है। इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुडसुत्त', 'छक्खण्डागमसुत्त', कुन्दकुन्द-साहित्य एवं 'धवला'- 'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती है। दिगम्बर जैन साहित्य की शौरसेनी प्राकृत भाषा अकृत्रिम, स्वाभाविक एवं वास्तविक जनभाषा है। यही नहीं, बौद्ध ग्रन्थों की भाषा मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही है, जिसे कृत्रिम रूप से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्वदेशीय प्रभावों के साथ पालि रूप दिया गया। उसे खींच-तानकर प्राचीन बनाने की कोशिश की गयी है, जिससे उसकी वाक्यरचना में जटिलता आ गयी है। इसी कारण मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ। मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वीय उच्चारण-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है, मूलतः वह भी शौरसेनी ही है।''

-प्रो० भोलाशंकर व्यास (प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च १९९७, पृ० १७)

यद्यपि इन विचारबिन्दुओं में अधिकांश वे ही हैं, जिन्हें नथमलजी टाँटिया के व्याख्यान के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किया गया हैं। इस प्रकार प्रो० व्यासजी के व्याख्यान में उभरकर आये विचार-बिन्दुओं में यद्यपि कोई नवीन मुद्दे सामने नहीं आये हैं फिर भी यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१. "शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी, इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसका क्षेत्रीय संस्करण थी।"

शौरसेनी प्राकृत यदि मूल प्राकृत थी, तो फिर भास के नाटकों (ईसा की दूसरी शती) के पूर्व के प्राकृत अभिलेखों और प्राकृत के ग्रन्थों में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ अर्थात् मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" एवं "न्" के स्थान पर "ण्" क्यों नहीं दिखायी देती है? इस सम्बन्ध में हम विस्तार से चर्चा अपने अन्य लेखों 'जैन आगमों की मूलभाषा—अर्धमागधी या शौरसेनी'[१], 'अशोक के अभिलेखों की भाषा'[२] आदि में कर रहे हैं। सत्यता यह है कि ईसा की दूसरी शती के पूर्व उस शौरसेनी प्राकृत का कहीं कोई अता-पता ही नहीं था, जिसे मूल प्राकृत कहा जा रहा है।

प्रो० व्यासजी का यह कथन कि 'मागधी प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का क्षेत्रीय संस्करण थी', यह भाषा-शास्त्रीय ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं है, क्योंकि मूलतः सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से ही विकसित हुई हैं। मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों को प्राकृत भाषा के क्षेत्रीय संस्करण तो कहा जा सकता है; किन्तु इनमें से किसी को भी मूल और दूसरी को उसका क्षेत्रीय संस्करण नहीं कहा जा सकता। इनमें से किसी को माता और किसी को पुत्री नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये तो सभी बहनें हैं। यदि हम कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो हमें यही मानना होगा कि लिखित भाषा के रूप में मागधी ही सबसे प्राचीन प्राकृत है। अतः इस दृष्टि से प्रो० व्यासजी का यह समीकरण उलट जायेगा और उन्हें यह मानना होगा कि मागधी मूल प्राकृत है और शौरसेनी प्राकृत मागधी प्राकृत का एक क्षेत्रीय संस्करण है।

२. शौरसेनी प्राकृत मध्य-देश में बोली जाती थी तथा सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा।"

---

१. "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी", डॉ० सागरमल जैन, जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अप्रैल, मई, जून एवं सितम्बर अंक, १९९८। ज्ञातव्य है कि यह लेख इस कृति में इसी नाम से प्रकाशित है।

२. 'अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी', जैनविद्या के विविध आयाम, खण्ड ६, डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९८, पृ० ७०८-७११। यह लेख भी इसी कृति में समाहित किया गया है।

यह तो सत्य है कि शौरसेनी प्राकृत मध्य-देश में बोली जाती थी; किन्तु प्रो० व्यास का यह कथन कि सम्पूर्ण भारत में इसके माध्यम से साहित्य सृजन होता रहा है, साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर मात्र एक अतिशयोक्ति से अधिक कुछ नहीं है, क्योंकि नाटकों के शौरसेनी अंशों को छोड़कर हमें शौरसेनी प्राकृत में कोई भी धर्म या सम्प्रदाय निरपेक्ष सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। शौरसेनी प्राकृत में जो भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे मात्र जैनों के दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के हैं। यह ठीक है कि इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने चाहे वे उत्तर भारत के हों या दक्षिण भारत के, शौरसेनी प्राकृत में ही अपने ग्रन्थ लिखे थे; किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उसी काल में श्वेताम्बर जैन आचार्य अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में अपनी धार्मिक एवं साहित्यिक कृतियों की रचना कर रहे थे। मात्र इतना ही नहीं, उसी काल में धर्म एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना भी महाराष्ट्री प्राकृत में हो रही थी। जहाँ शौरसेनी प्राकृत में सम्प्रदाय निरपेक्ष साहित्यिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, वहीं महाराष्ट्री प्राकृत में ऐसे अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इससे यही फलित होता है कि धर्म-निरपेक्ष साहित्यिक कृतियों की रचना की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत ही अधिक प्रचलन में थी। आज शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत के अधिक व्यापक होने का प्रमाण है। अत: यह मानना होगा कि शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत अधिक व्यापक रही है और उसके माध्यम से धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के साहित्य का सृजन भारत में होता रहा है।

३. "शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों एवं अन्य भाषाओं की जननी है।"

इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम अपने पूर्व लेखों में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।[१] सत्य तो यह है कि सभी प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई हैं और इसलिए यह कहना किसी भी स्थिति में युक्तिसंगत नहीं है कि शौरसेनी प्राकृत ही सभी प्राकृतों या अन्य भाषाओं की जननी है। किसी भी एक प्राकृत को दूसरी प्राकृत से उत्पन्न हुआ मानना एक भ्रान्ति है। सभी साहित्यिक प्राकृतें अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों के संस्कारित रूप हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय बोली की उच्चारणगत अपनी विशेषता होती है, जो उस क्षेत्र की भाषा की भी विशेषता बन जाती है। ये उच्चारणगत क्षेत्रीय विशेषताएँ प्रत्येक क्षेत्र की निजी होती हैं, वे किसी भी दूसरे क्षेत्र के प्रभाव से उत्पन्न नहीं होती हैं। अत: प्रत्येक प्राकृत अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ अपनी क्षेत्रीय

---

१. "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी", डॉ० सागरमल जैन, जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अंक-अप्रैल, मई, जून एवं सितम्बर अंक १९९८। ज्ञातव्य है कि यह लेख इस कृति में भी इसी नाम से प्रकाशित है।

बोली से जन्म लेती है, किसी दूसरी प्राकृत से नहीं। जैसे मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, बुन्देली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों को किसी एक बोली विशेष से या हिन्दी से उत्पन्न मानना अवैज्ञानिक है एवं एक भ्रान्ति है और कोई भी भाषाशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेगा; वैसे ही किसी एक प्राकृत विशेष को भी दूसरी प्राकृत से या संस्कृत से उत्पन्न मानना भी एक भ्रान्ति है।[१]

४. "पहले दो प्राकृतें थीं शौरसेनी और मागधी; महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परवर्ती रूप है। महाराष्ट्री प्राकृत का मैं कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता।"

प्रथम तो यह कहना कि महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का ही परवर्ती रूप है, उचित नहीं है, क्योंकि शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि सभी प्राकृतों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जहाँ शौरसेनी प्राकृत में मध्यवर्ती 'त्' का 'द्' में परिवर्तन होता है वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में लुप्त व्यञ्जनों की 'य'-श्रुति होती है। पुन: शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री प्राकृत कोमल और कान्त है वहाँ शौरसेनी कठोर पदावलियों से युक्त है, यथा— 'वद्धमान' का 'वड्डमाण'। पुन: जब दोनों की अपनी-अपनी लक्षणगत भिन्नता है, तो फिर यह कहना कि मैं महाराष्ट्री प्राकृत का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता हूँ, उचित नहीं है।

आज यदि प्राकृतों में किसी प्राकृत का सर्वाधिक साहित्य है तो वह महाराष्ट्री प्राकृत का ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की तुलना में शेष सभी प्राकृतों का साहित्य तो दशमांश भी नहीं है, जिसमें ९० प्रतिशत साहित्य हो उस प्राकृत का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानना, केवल पक्षाग्रह का ही सूचक है। पुन: यदि महाराष्ट्री और शौरसेनी में अन्तर नहीं है तो फिर शौरसेनी नाम का आग्रह ही क्यों? आज एक भी ऐसा साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि शौरसेनी प्राचीन है और महाराष्ट्री परवर्ती है। अश्वघोष या भास के नाटकों से अर्थात् ईस्वी सन् की दूसरी शती से पूर्व का एक भी साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर शौरसेनी की अन्य प्राकृतों से प्राचीनता सिद्ध हो सके जबकि सातवाहन हाल की महाराष्ट्री प्राकृत में रचित 'गाथासप्तशती' उनसे प्राचीन है, क्योंकि सातवाहन हाल का काल प्रथम शती माना जाता है। मात्र यही नहीं, 'गाथासप्तशती' भी एक संग्रह ग्रन्थ है और इसकी अनेकों गाथाएँ उससे भी पूर्व रचित हैं अत: परवर्ती भाषा महाराष्ट्री नहीं, शौरसेनी ही है।

५. "अर्धमागधी प्राकृत जो मात्र श्वेताम्बर जैन आगमों में मिलती है, का आधार शौरसेनी प्राकृत ही है।"

इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा मैं इसी ग्रन्थ में प्रकाशित अपने स्वतन्त्र

१. वही, अंक जून १९९८, पृ० २३-२८

लेख 'आगमों की मूल भाषा शौरसेनी या अर्धमागधी' में कर चुका हूँ। यह ठीक है कि अर्धमागधी में मागधी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी मिलते हैं। यद्यपि अर्धमागधी में अनेक स्थानों पर 'र्' का 'ल्' विकल्प से तो होता ही है, किन्तु इसमें मागधी के कुछ लक्षण जैसे सर्वत्र "र्" का "ल्", "स्" का "श" नहीं मिलते हैं; फिर भी यह सुनिश्चित सत्य है कि भगवान् महावीर के वचनों के आधार पर सर्वप्रथम इसी अर्धमागधी प्राकृत में आगम और आगमतुल्य ग्रन्थों की रचना हुई है। ऐसी स्थिति में यह कहने का क्या अर्थ है कि अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत है। इसके विपरीत सिद्ध तो यही होता है कि शौरसेनी प्राकृत का आधार अर्धमागधी है, क्योंकि शौरसेनी आगमों में अर्धमागधी आगमों और महाराष्ट्री के हजारों शब्द-रूप ही नहीं, अपितु हजारों गाथाएँ भी मिलती हैं, इसकी सप्रमाण चर्चा भी हम अपने पूर्व लेख में कर चुके हैं।

पुनः आगमिक उल्लेखों से भी यही प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन अर्धमागधी प्राकृत में दिये थे और उन्हीं के आधार पर गणधरों ने उसी भाषा में ग्रन्थ रचना की थी। भगवान् महावीर और उनके गणधरों की मातृभाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी, क्योंकि वे सभी मगध में ही जन्मे थे। क्या प्रो० व्यासजी भाषाशास्त्रीय, साहित्यिक या अभिलेखीय प्रमाणों से यह सिद्ध कर सकते हैं कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी प्राकृत का आधार शौरसेनी प्राकृत या उसमें रचित ग्रन्थ हैं?

उपलब्ध अर्धमागधी आगमों यथा आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित आदि को पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभी विद्वानों ने ईस्वी पूर्व की रचनाएँ मानी हैं, जबकि कोई भी शौरसेनी आगम ईसा की तीसरी-चौथी शती के पूर्व का नहीं है। इससे सिद्ध यही होता है कि शौरसेनी आगमों का आधार अर्धमागधी आगम है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा करने के बाद अन्त में यह कहा- 'शेषं प्राकृतवत्', इस सूत्र से क्या यही सिद्ध किया जाय कि शौरसेनी प्राकृत का आधार महाराष्ट्री प्राकृत है। ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र का 'प्राकृत' से तात्पर्य 'महाराष्ट्री प्राकृत' ही है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत के नाम से महाराष्ट्री प्राकृत का ही व्याकरण लिखा है।

६. "शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं।"

इस सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन हम अपने स्वतन्त्र लेख 'अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी' में कर रहे हैं। सभी विद्वानों ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या आर्षप्राकृत ही है,

यद्यपि अभिलेखों पर तत्-तत् क्षेत्र की बोलियों का किञ्चित् प्रभाव देखा जाता है। शौरसेनी प्राकृत के जो दो विशिष्ट लक्षण माने जाते हैं— मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" और दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" - ये दोनों लक्षण अशोक के किसी भी अभिलेख में प्राय: नहीं पाये जाते हैं। अत: हमें अशोक के भिन्न-भिन्न अभिलेखों की भाषा को तत्-तत् प्रदेशों की क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही मानना होगा। इन क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव के आधार पर उसे अर्धमागधी के निकट तो कह सकते हैं; किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण नहीं पाया जाता है। एक दो अपवादों को छोड़कर अशोक के अभिलेखों में न तो कहीं मध्यवर्ती "त्" का "द्" पाया जाता है और न कहीं दन्त्य "न्" के स्थान पर मूर्धन्य "ण्" का प्रयोग मिलता है। उनमें सर्वत्र ही दन्त्य "न्" का प्रयोग देखा जाता है।

जहाँ तक प्रो० व्यासजी के इस कथन का प्रश्न है कि "शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं" इस विषय में हम उनसे यही जानना चाहेंगे कि क्या गिरनार के किसी भी शिलालेख में मध्यवर्ती "त्" के स्थान पर "द्" का प्रयोग हुआ है? जहाँ तक मूर्धन्य "ण्" का प्रश्न है वह शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों में समान रूप से ही पाया जाता है फिर भी उसका अशोक के अभिलेखों में कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। हम उनसे साग्रह निवेदन करना चाहेंगे कि वे गिरनार के अभिलेखों में उन शब्द-रूपों को छोड़कर जो शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों में ही पाये जाते हैं, शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणयुक्त शब्द-रूप दिखायें जो अर्धमागधी और महाराष्ट्री के शब्द-रूपों से भिन्न हों और मात्र शौरसेनी की विशिष्टता को लिये हुए हों।

यहाँ पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गिरनार का क्षेत्र तो महाराष्ट्री प्राकृत का क्षेत्र है। गिरनार के अभिलेखों में जिन्हें वे शौरसेनी प्राकृत के शब्द-रूप मान रहे हैं वे वस्तुत: महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप हैं। अत: गिरनार के अभिलेखों की भाषा को शौरसेनी प्राकृत नहीं माना जा सकता है। पुन: गिरनार की बात तो दूर रही स्वयं शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र देहली-टोपरा के अशोक के अभिलेखों में कहीं भी शौरसेनी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते हैं अपितु वहाँ पर 'लाजा' जैसे मागधी रूप ही मिलते हैं। फिर वे किस आधार पर यह कहते हैं कि गिरनार के शिलालेखों में शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप मिलते हैं।

७. "इसी क्रम में आगे प्रो० व्यासजी कहते हैं- इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा 'कसायपाहुडसुत्त', 'छक्खण्डागमसुत्त', कुन्दकुन्द साहित्य एवं 'धवला', 'जयधवला' आदि में प्रयुक्त मिलती है।"

प्रो० व्यासजी ने उपरोक्त ग्रन्थों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी कहा है। मैं प्रो० व्यासजी से अत्यन्त विनम्र शब्दों में यह पूछना चाहूँगा कि क्या इन ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने कोई विश्लेषण किया हैं? क्या इन ग्रन्थों के सन्दर्भ में उनका अध्ययन प्रो० उपाध्ये और प्रो० खडबडी जैसे दिगम्बर-परम्परा के मूर्धन्य विद्वानों की अपेक्षा भी अधिक गहन है। आज तक किसी भी विद्वान् ने दिगम्बर आगमों की भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी नहीं माना है। प्रो० ए०एन० उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि उसकी (प्रवचनसार की) भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो० खड़बड़ी छक्खण्डागम की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं मानते हैं और उस पर अर्धमागधी का प्रभाव बताते हैं। यदि हम इन सभी ग्रन्थों के शब्द-रूपों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करें तो स्पष्ट रूप से हमें एक दो नहीं परन्तु सैकड़ों और हजारों शब्द-रूप महाराष्ट्री और अर्धमागधी प्राकृत के मिलेंगे।

मैंने अपने पूर्व लेख 'जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी' में विस्तार से इस सम्बन्ध में भी चर्चा की है।[१] प्रो० व्यासजी जिसे परिशुद्ध शौरसेनी कह रहे हैं वह तो अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की एक प्रकार की खिचड़ी है। शौरसेनी के प्रत्येक ग्रन्थ में इन विभिन्न प्राकृतों का अनुपात भी भिन्न-भिन्न पाया जाता है।

८. "बौद्ध ग्रन्थों की पालि भाषा भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही थी, जिसे कृत्रिम रूप से संस्कृतनिष्ठ बनाकर पूर्व-देशीय प्रभावों के साथ पालि-रूप दिया गया।"

बौद्ध ग्रन्थों की मूल भाषा क्या थी और उसे किस प्रकार पालि में रूपान्तरित किया गया, इसकी भी विस्तृत सप्रमाण समीक्षा हम अपने "जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी" नामक लेख में कर चुके हैं।[२] उस लेख में हमने स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया है कि भगवान् बुद्ध का कार्यक्षेत्र मुख्यतः मगध और उसका समीपवर्ती प्रदेश रहा है। उन्होंने उनकी मातृभाषा मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे और उनके उपदेशों का प्रथम संकलन भी मागधी में ही हुआ था। यह सत्य है कि कालान्तर में उसे संस्कृत के निकटवर्ती बनाकर पालि रूप दिया गया; किन्तु उसे किसी भी रूप में शौरसेनी प्राकृत नहीं कहा जा सकता है। उसे खींचतान कर शौरसेनी बताने का प्रयत्न एक दुराग्रह मात्र ही होगा।

९. "मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत भाषा मानता हूँ।"

हमें यहाँ प्रो० व्यासजी के द्वारा खड़ी की गयी इस भ्रान्ति का निराकरण करना होगा कि सभी प्राकृतें शौरसेनीजन्य हैं। अपने व्याख्यान में वे एक स्थान पर कहते हैं

१-२. जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी, डॉ० सागरमल जैन, जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, अंक अप्रैल, मई, जून १९९८.

कि ''शौरसेनी प्राकृत ही मूल प्राकृत थी और इसकी समवर्ती मागधी प्राकृत इसी का क्षेत्रीय सस्करण थी।'' पुन: वे कहते हैं कि ''परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत पूरी तरह से शौरसेनी का ही परिवर्तित रूप है, महाराष्ट्री प्राकृत का स्वतन्त्र अस्तित्व मैं नहीं मानता।'' पुन: वे कहते हैं कि अर्धमागधी प्राकृत जो कि मात्र श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रन्थों में मिलती है उसका आधार भी शौरसेनी प्राकृत ही है। इसी क्रम में आगे वे कहते हैं कि ''बौद्ध ग्रन्थों की पालि भाषा भी मूलत: शौरसेनी प्राकृत ही है।'' उनके इन सब कथनों का निष्कर्ष तो यह है कि मागधी भी शौरसेनी है, महाराष्ट्री भी शौरसेनी है, अर्धमागधी भी शौरसेनी है और पालि भी शौरसेनी है। यदि मागधी, पालि, अर्धमागधी और महाराष्ट्री सभी शौरसेनी हैं, तो फिर यह सब अलग-अलग भाषाएँ क्यों मानी जाती हैं और व्याकरण-ग्रन्थों में इनके अलग-अलग लक्षण क्यों निर्धारित किये गये हैं? मागधी, शौरसेनी, आदि सभी प्राकृतों के अपने विशिष्ट लक्षण हैं, जो उससे भिन्न अन्य प्राकृत में नहीं मिलते हैं, फिर वे सब एक कैसे कही जा सकती हैं। यदि मागधी, पालि, अर्धमागधी और महाराष्ट्री सभी शौरसेनी हैं तो इन सभी के विशिष्ट लक्षणों को भी शौरसेनी के ही लक्षण मानने होंगे और ऐसी स्थिति में शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण नहीं रह जायेगा; किन्तु क्या शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों के अभाव में उसे शौरसेनी नाम भी दिया जा सकेगा? वह तो परिशुद्ध शौरसेनी न हो करके मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की ऐसी खिचड़ी होगी जिसे शौरसेनी न कहकर अर्धमागधी कहना ही उचित होगा, क्योंकि अर्धमागधी का ही यह लक्षण बताया गया है। ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी का लक्षण यही है कि उसमें मागधी के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी पाये जाते हैं।

१०. ''मैं शौरसेनी को ही मूल प्राकृत मानता हूँ, मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्वी उच्चारण-भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। मूलतः यह भी शौरसेनी ही है।''

मैं प्रो० व्यासजी से सविनय यह पूछना चाहूँगा कि यदि शौरसेनी ही मूल प्राकृत भाषा है तो क्या इसका कोई अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण है? 'प्रकृति: शौरसेनी' के जिस सूत्र को लेकर शौरसेनी को मूल प्राकृत भाषा कहा जा रहा है उसमें 'प्रकृति' शब्द का क्या अर्थ है इसकी विस्तृत समीक्षा भी हम पूर्व लेख ''जैन आगमों की मूल भाषा अर्धमागधी या शौरसेनी'' में कर चुके हैं।

पुन: प्रो० व्यासजी का यह कथन कि मागधी भी लगभग इतनी ही प्राचीन है, यही सिद्ध करता है कि मागधी प्राकृत शौरसेनी से उत्पन्न नहीं हुई है। प्रो० व्यासजी दबी जबान से यह तो स्वीकार करते हैं कि 'मागधी भी इतनी ही प्राचीन है'; किन्तु वे स्पष्ट रूप से यह क्यों नहीं स्वीकार करते कि मागधी शौरसेनी की अपेक्षा प्राचीन है। अशोक के अभिलेख जो ई०पू० तीसरी शती में लिखे गये वे मागधी की प्राचीनता

को स्पष्ट रूप से उजागर कर रहे हैं, जबकि शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या ग्रन्थांश ई० सन् की प्रथम-दूसरी शती के पूर्व का नहीं है। यदि साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर मागधी प्राकृत शौरसेनी की अपेक्षा कम से कम ३०० वर्ष प्राचीन है, तो फिर यह मानना होगा कि वह मागधी ही मूल प्राकृत भाषा है।

पुन: प्रो० व्यासजी का यह कथन कि "पूर्वीय उच्चारण-भेद के अतिरिक्त मागधी और शौरसेनी में कोई अन्तर नहीं है। यह कथन मूलत:— वह भी शौरसेनी ही है", युक्तिसंगत नहीं है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि उच्चारण-भेद और प्रत्ययों के भेद ही विभिन्न प्राकृतों के अन्तर का आधार है। यदि भेद नहीं होते तो फिर विभिन्न प्राकृतों में कोई अन्तर किया ही नहीं किया जा सकता था और सभी प्राकृतें एक ही होतीं। वस्तुत: प्राकृत के मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि जो विविध भेद हैं वे अपने-अपने क्षेत्रीय उच्चारण-भेद और प्रत्यय-भेद के आधार पर ही स्थित हैं। अत: यह तो कहा जा सकता है कि मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि सभी मूलत: प्राकृते हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि मागधी आदि भी शौरसेनी हैं। इनकी अपनी-अपनी लाक्षणिक भिन्नताएँ हैं; अत: यह नहीं कहा जा सकता कि मागधी भी शौरसेनी है या शौरसेनी का क्षेत्रीय संस्करण है। जिस प्रकार मागधी, पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि प्राकृत के विभिन्न भेद हैं उसी प्रकार शौरसेनी भी प्राकृत का ही एक भेद है। पुन: यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर जैन आगमों की शौरसेनी परिशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उसे जैन शौरसेनी नाम दिया है।

मैं "प्राकृतविद्या" के सम्पादक डॉ० सुदीपजी जैन से निवेदन करना चाहूँगा कि वे प्रो.० टाँटियाजी और प्रो० भोलाशंकर व्यासजी के नाम पर शौरसेनी की सर्वोपरिता की थोथी मान्यता स्थापित करने हेतु प्राकृत-प्रेमियों के बीच खाई न खोदें। वस्तुत: यदि प्राकृत-प्रेमी पालि, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री की सर्वोपरिता के नाम पर आपस में लड़ने लगेंगे तो इससे प्राकृतविद्या की ही दुर्गति होगी। आज आवश्यकता है मिल-जुल कर समवेतरूप से प्राकृतविद्या के विकास की, न कि प्राकृत के इन क्षेत्रीय भेदों के नाम पर लड़कर अपनी शक्ति को समाप्त करने की। आशा है प्राकृतविद्या के सम्पादक को इस सत्यता का बोध होगा और वे प्राकृत-प्रेमियों को आपस में न लड़ाकर प्राकृतों के विकास का कार्य करेंगे।

●

अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी

प्राकृत-विद्या, अंक जनवरी-मार्च १९९७ (पृ० ९७) में प्रो० भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान के समाचारों के सन्दर्भ में सम्पादक डा० सुदीप जैन ने प्रो० व्यासजी को उद्धृत करते हुए लिखा है कि शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन रूप सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख में मिलते हैं। किन्तु प्रो० व्यास जी का यह कथन भ्रामक है और इसका कोई भी भाषाशास्त्रीय ठोस आधार नहीं है।

अशोक के अभिलेखों की भाषा और व्याकरण के सन्दर्भ में अधिकृत विद्वान् एवं अध्येता डा० राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में गहन समीक्षा की है। उन्होंने अशोक के अभिलेखों की भाषा को चार विभागों में बाँटा है— १. पश्चिमोत्तरी (पैशाच-गान्धार), २. मध्यभारतीय, ३. पश्चिमी महाराष्ट्र, ४. दक्षिणावर्त (आन्ध्र-कर्नाटक)। अशोक की भाषा के सन्दर्भ में वह लिखते हैं- महाभारत के बाद का भारतीय इतिहास मगध साम्राज्य का इतिहास है। इसलिए शताब्दियों से उत्तर भारत में एक सार्वदेशिक भाषा का विकास हो रहा था। यह भाषा वैदिक भाषा से उद्भूत लौकिक संस्कृत से मिलती-जुलती थी और उसके समानान्तर प्रचलित हो रही थी। अशोक ने अपने प्रशासन और धर्म प्रसार के लिए इसी भाषा को अपनाया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस भाषा का केन्द्र मगध था, जो मध्य-देश (स्थानेसर और कजंगल की पहाड़ियों के बीच का देश) के पूर्व भाग में स्थित था। इसलिये मागधी भाषा की इसमें प्रधानता थी, परन्तु सार्वजनिक भाषा होने कारण दूसरे प्रदेशों की ध्वनियों और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों को भी यह आत्मसात करती जा रही थी। अशोक के अभिलेख मूलत: मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा में लिखे गये थे। फिर भी यह समझा गया कि दूरस्थ प्रदेशों की जनता के लिये यह प्रशासन और प्रचार की भाषा थोड़ी अपरिचित थी। इसलिए अशोक ने इस बात की व्यवस्था की थी कि अभिलेखों के मूल पाठों का विभिन्न प्रान्तों में आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत लिप्यन्तर और भाषान्तर कर दिया जाय। यही कारण है कि अभिलेखों के विभिन्न संस्करणों में पाठ-भेद पाया जाता है। पाठ भेद इस तथ्य का सूचक है कि भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न बोलियाँ थीं, जिनकी अपनी विशेषताएं थीं। अशोक के अभिलेखों में विभिन्न बोलियों के शब्दरूप को देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्यभारतीय भाषा ही इस समय की सार्वदेशिक भाषा थी, मूलत:

इसी में अशोक के अभिलेख प्रस्तुत हुए थे। इसे मागध अथवा मागधी भाषा भी कह सकते हैं। परन्तु यह नाटकों एवं व्याकरण की मागधी से भिन्न है। जहाँ मागधी प्राकृत में केवल तालव्य 'श' का प्रयोग होता है वहाँ अशोक के अभिलेखों में केवल दन्तव्य 'स' का प्रयोग होता है (अशोक के अभिलेख— डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० २२-२३)।

इससे दो तथ्य फलित होते हैं, प्रथम तो यह कि अशोक के अभिलेखों की भाषा नाटकों और व्याकरण की मागधी प्राकृत से भिन्न है और उसमें अन्य बोलियों के शब्द रूप निहित हैं। इसलिए हम इसे अर्धमागधी भी कह सकते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा यह किञ्चित भिन्न है। फिर भी इतना निश्चित् है कि यह दिगम्बर आगमों की अथवा नाटकों की शौरसेनी प्राकृत कदापि नहीं है। दिगम्बर आगमों की शौरसेनी के दो प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं— मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' का प्रयोग और दन्त्य 'न' के स्थन, पर मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग। अशोक के अभिलेखों में मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' का प्रयोग कहीं भी नहीं देखा जाता है। शौरसेनी प्राकृत में संस्कृत 'भवति' का 'भवदि' या 'होदि' रूप मिलता है जबकि अशोक के अभिलेखों में एक स्थान पर भी 'होदि' रूप नहीं पाया जाता। सर्वत्र होति रूप पाया जाता है, जो अर्धमागधी का लक्षण है। इसी प्रकार 'पितृ' शब्द का 'पिति' या 'पितु' रूप मिलता है जो कि अर्धमागधी का लक्षण है, शौरसेनी की दृष्टि से तो उसका 'पिदु' रूप होना था। इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द का शौरसेनी प्राकृत में 'आदा' रूप बनता है, जबकि अशोक के अभिलेखों में कहीं भी 'आदा' रूप नहीं मिला है। सर्वत्र अत्ने, अत्ना यही रूप मिलते हैं। इसी प्रकार 'हित' का शौरसेनी रूप 'हिद' न मिलकर सर्वत्र ही हित शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार जहाँ शौरसेनी दन्त्य 'न' के प्रयोग के स्थान पर मूर्धनय 'ण' का प्रयोग पाया जाता है वहाँ अशोक के मध्यभारतीय समस्त अभिलेखों में मूर्धन्य ण का पूर्णतः अभाव है और सर्वत्र दन्त्य 'न' का प्रयोग हुआ है, पश्चिमी अभिलेखों में भी मूर्धन्य 'ण' का यदा-कदा ही प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वत्र नहीं। पुनः यह मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग तो महाराष्ट्री प्राकृत में भी पाया जाता है। अशोक के अभिलेखों की भाषा के भाषाशास्त्रीय दृष्टि से जो भी अध्ययन हुए हैं उनमें जहाँ तक मेरी जानकारी है, किसी एक भी विद्वान् ने उनकी भाषा को शौरसेनी प्राकृत नहीं कहा है। यदि उसमें एक दो शौरसेनी शब्द रूप जो अन्य प्राकृतों यथा अर्धमागधी या महाराष्ट्री में भी *'कामन'* हैं, मिल जाते हैं तो उसकी भाषा को शौरसेनी तो कदापि नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए शायद प्रो० भोलाशंकर जी व्यास को भी दबी जुबान से यह कहना पड़ा कि शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख में मिलते हैं। सम्भवतः इसमें इतना संशोधन अपेक्षित है कि शौरसेनी प्राकृत के कुछ प्राचीन शब्दरूप गिरनार के शिलालेख में मिलते हैं। किन्तु यह बात ध्यान

देने योग्य है कि यह शब्द रूप प्राचीन अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भी मिलते हैं, अतः मात्र दो-चार शब्द रूप मिल जाने से अशोक के अभिलेख शौरसेनी प्राकृत के नहीं माने जा सकते हैं। क्योंकि उनमें शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों वाले शब्द रूप नहीं मिलते हैं। उसके आगे समादरणीय भोलाशंकर जी व्यास को उद्धृत करते हुए डा० सुदीप जैन ने लिखा है कि इसके बाद परिशुद्ध शौरसेनी भाषा कषायपाहुड़सुत्त, षट्खण्डागमसुत्त, कुन्दकुन्द साहित्य एवं धवला, जयधवला आदि में प्रयुक्त मिलती है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अशोक के अभिलेखों की मागधी अर्थात् अर्धमागधी से ही दिगम्बर जैन साहित्य की परिशुद्ध शौरसेनी विकसित हुई है। मैं यहाँ स्पष्ट रूप से यह जानना चाहूँगा कि क्या अशोक के अभिलेखों की भाषा में दिगम्बर जैन साहित्य की तथाकथित परिशुद्ध शौरसेनी अथवा नाटकों की शौरसेनी अथवा व्याकरण सम्मत शौरसेनी का कोई भी विशिष्ट लक्षण उपलब्ध होता है? जहाँ तक मेरी जानकारी है कि अशोक के अभिलेखों की भाषा अन्य प्रदेशों के शब्द रूपों से प्रभावित मागधी प्राकृत है। वह मागधी और अन्य प्रादेशिक बोलियों के शब्दों रूपों से मिश्रित एक ऐसी भाषा है, जिसकी सर्वाधिक निकटता जैन आगमों की अर्धमागधी से है। उसे शौरसेनी कहकर जो भ्रान्ति फैलाई जा रही है वह सुनियोजित षड्यंत्र है। वस्तुतः दिगम्बर आगम तुल्य ग्रन्थों की जिस भाषा को परिशुद्ध शौरसेनी कहा जा रहा है वह वस्तुतः न तो व्याकरण सम्मत शौरसेनी है और न नाटकों की शौरसेनी— अपितु अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की ऐसी खिचड़ी है, जिसमें इनके मिश्रण के अनुपात भी प्रत्येक ग्रन्थ और उसके प्रत्येक संस्करण में भिन्न-भिन्न हैं।

इसकी चर्चा मैंने अपने लेख **जैन आगमों की मूलभाषा मागधी या शौरसेनी** में की है। शौरसेनी का साहित्यिक भाषा के रूप में तब तक जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों एवं दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों की भाषा तो उसके तीन-चार सौ वर्ष बाद अस्तित्व में आई है। वस्तुतः दिल्ली, मथुरा एवं आगरा के समीपवर्ती उस प्रदेश में जिसे शौरसेनी का जन्मस्थल कहा जाता है, अशोक के जो भी अभिलेख उपलब्ध हैं, उनमें शौरसेनी के लक्षणों यथा 'त' का 'द', 'न' का 'ण' आदि का पूर्ण अभाव है। मात्र यही नहीं उसमें 'लाजा' (राजा) जैसा मागधी का शब्द रूप स्पष्टतः पाया जाता है। इसी प्रकार गिरनार के अभिलेखों में भी शौरसेनी के व्याकरणसम्मत लक्षणों का अभाव है। उनमें अर्धमागधी के वे शब्द रूप, जो शौरसेनी में भी पाये जाते हैं देखकर यह कह देना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय प्रभावों से युक्त शौरसेनी में है, यह उचित नहीं है। उसे अर्धमागधी तो माना जा सकता है, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं माना जा सकता है। पाठकों को स्वयं निर्णय करने के लिए यहाँ दिल्ली टोपरा के अशोक के अभिलेखों का मूलपाठ प्रस्तुत है—

दिल्ली टोपारा स्तम्भ प्रथम अभिलेख

(धर्म पालन से इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति)

(उत्तराभिमुख)

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (१) सडुवीसति-

२. वस अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता (२)

३. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धंमकामताया

४. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेन

५. अगन उसाहेना (३) एस चु खो मम अनुसथिया धंमा-

६. पेखा धंमकामता चा सुवे सुवे वडिता वडीसति चेवा (४)

७. पुलिसा पि च मे उकसा चा गेवया चा मझिमा चा अनुविधीयंती

८. संपटिपादयंति चा अलं चपलं समादपयितवे (५) हेमेमा अंत-

९. महामाता पि (६) एस हि विधि या इयं धंमेन पालना धंमेन विधाने

१०. धंमेन सुखियना धंमेन गोती ति (७)

द्वितीय अभिलेख

(उत्तराभिमुख)

(धर्म की कल्पना)

१. देवानंपिये पियदसि लाज

२. हेवं आहा (१) धंमे साधू कियं धंमे ति (२) अपासिनवे वहुकयाने

३. दया दाने सोचये (३) चखुदाने पि मे बहुविधे दिने (४) दुपद-

४. चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान-

५. दाखिनाये (५) अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि (६) एताये मे

६. अठाये इयं धंमलिपि लिखापिता हेवं अनुपटिपजंतु चिलं-

७. थितिका च होतू तीति (७) ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कछती ति।

तृतीय अभिलेख

(उत्तराभिमुख)

(आत्मनिरीक्षण)

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा (१) कयानं मेव देखति इयं मे

२. कयाने कटे ति (२) नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा आसिनवे

३. नामाति (३) दुपटिवेखे चु खो एसा (४) हेवं चु खो एस देखिये (५) इमानि

४. आसिनवगामीनि नाम अथ चंडिये निठलिये कोधे माने इस्या

५. कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं (६)एस बाढ देखिये (७) इयं मे

६. हिदतिकाये इयंमन मे पालतिकाये

चतुर्थ अभिलेख
(पश्चिमाभिमुख)
(रज्जुकों के अधिकार और कर्तव्य)

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा (१) सडुवीसतिवस-

२. अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता (२) लजूका मे

३. बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयता (३) तेसं ये अभिहाले वा पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदहेवू पवत

४. दंडे वा अतपतिये मे कटे किंति लजूका अस्वथ अभीता

५. कंमानि पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदहेवू

६. अनुगहिनेवु च (४) सुखीयनं दुखीयनं जानिसंति धंमयुतेन च

७. वियोवदिसंति जनं जानपद किंति हिदतं च पालतं च

८. आलाधयेवू ति (५) लजूका पि लघंति पटिचलितवे मं (६) पुलिसानि पि मे

९. छंदनानि पटिचलिसंति (७) ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूका

१०. चघंति आलाधयितवे (८) अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु

११. अस्वथे होति वियत धाति चघति में पजं सुखं पलिहटवे

१२. हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये (९) येन एते अभीता

१३. अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं

१४. अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटे (१०) इछितविये हि एसा किंति

१५. वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा (११) अव इते पि च मे आवुति

१६. बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे

१७. योते दिने (१२) नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं

१८. नासंतं वा निझपयिता वा नं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति (१३)

१९. इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति (१४) जनस च

२०. बढ़ति विविधे धंमचलने संयमे दानसविभागे ति (१५)

पञ्चम अभिलेख
(दक्षिणाभिमुख)
(जीवों का अभयदान)

१. देवानंप्रिये पियदसि लाज हेवं अहा (१) सडुवीसतिवस-

२. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि सेयथा

३. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे

४. जतूका अंबाकपीलिका दळी अनठिकमछे वेदवेयके

५. गंगा पुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले

६. संकडे ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते

७. सवे चतुपदे ये पटिभागं नो एति न च खादियती (२) .... रि

८. एळका चा सकूली चा गभिनी वा पायमीना व अवधिय प तके

९. पि च कानि आसंमासिके (३) वधिकुकुटे नो कटविये (४) तुसे सजीवे

१०. नो झापेतविये (५) दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये (६)

११. जीवेन जीवे नो पुसितविये (७) तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं

१२. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा

१३. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये (८) एतानि येवा दिवसानि

१४. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि

१५. न हंतवियानि (९) अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये

१६. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये

१७. अजके एडके सूकले ए वा पि अंने नीलखियति नो वीलखितविये (१०)

१८. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासि पखाये अस्वसा गोनसा

१९. लखने नो कटविये (११) यावसडुवीसतिवस अभिसितेन मे एताये

२०. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि (१२)

षष्ठ अभिलेख
(अ-पूर्वाभिमुख)
(धर्मवृद्धिः धर्म के प्रतिअनुराग)

१. देवानांपिये पियदसि लाज हेवं अहा (१) दुवाडस

२. वस अभिसितेन मे धंमलिटि लिखापिता लोकसा

३. हितसुखाये से तं अपहटा तं तं धंमवडि पापो वा (?)

४. हेवं लोकसा हितसुखेति पटिवेखामि अथ इयं

५. नातिसु हेवं पतियासंनेसु हेवं अपकटेसु

६. किमं कानि सुखं अवहामी ति तथ च विदहामि (३) हे मे वा

७. सवनिकायेसु पटिवेखामि (४) सव पासंडा पि मे पूजिता

८. विविधाय पूजाया (५) ए चु इयं अतना पचूपगमने

९. से मे मोख्यमते ६) सडुविसति वस अधिसितेन मे

१०. इयं धंमलिपि लिखापिता (७)

सप्तम अभिलेख
(अ) पूर्वाभिमुख
(धर्मप्रचार का सिंहावलोकन)

१. देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (१) ये अतिकंतं

२. अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने

३. धंमवडिया वढेया नो चु जने अनुलुपाया धंमवडिया

४. वडिथा (२) एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (३) एस मे

५. हुथा (४) अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने

६. अनुलुपाया धंमवडिया वढेया ति नो च जने अनुलुपाया

७. धंमवडिया वडिथा (५) से किनसु जने अनुपटिपजेया (६)

८. किनसु जने अनुलुपाया धंमवडिया वढेया ति (७) किनसु कानि

९. अभ्युंनामयेहं धंमवडिया ति (८) देवानंपिये पिददसि लाजा हेवं

१०. आहा (९) एस मे हुथा (१०) धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथिनि

११. अनुसासामि (११) एतं जने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति

१२. धंमवडिया च वाडं वडिसति (१२) एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आन पितानि य......ि..... सा पि बहुने जनसि आयता ए ते पलियो वदिसंति पिपविथलिसंति पि (१३) लजूका पि बहुकेसु पानसहसेसु आयता ते पि मे अनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ

१३. जनं धंमयुतं (१४) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (१५) एतमेव मे अनुवेखमाने धंमथंभानि कटानि धंममहामाता कटा धंम......कटे (१६) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (१७) मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता (१७) अढकासिक्यानि पि मे उदुपानानि

१४. खानापापितानि निसिढया च कालापिता (१८) आपानानि मे बहुकानि तत तत कालपितानि पटीभोगाये पसुमुनिसानं (१९) ल.....एस पटीभोगे नाम (२०) विविधाया हि सुखापनाया पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके (२१) इमं चु धंमानु पटीपती अनुपटीपजंतु ति एतदथा मे

१५. एस कटे (२२) देवानंपिये पियदसि हेवं आहा (२३) धंममहामाता पि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटासे पवजीतानं चेव गिहिथानं च सव.........डेसु पि च वियापटासे (२४) संघठसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे

१६. इमे वियापटा होंहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटिविसिठं पटीविसिठं तेसु तेसु ते......माता (२५) धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च पासंडेसु (२६) देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा (२७)

१७. एते च अंने च बहुका मुखा दान-विसगसि वियापटासे मम चे व देविनं च। सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेन आ (का) लेन तानि तानि तुठायतनानि पटी (पादयंति) हिद एव दिसासु च। दालकानां पि च मे कटे। अंनानं च देवि-कुमालानं इमे दानविसगेसु वियापटा होहंति ति

१८. धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये (२८) ए हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे च मदवे साधवे च लोकस हेवं वडिसति ति (२९) देवानंपिये प......स लाजा हेवं आहा (३०) यानि हि कानिचि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनूपटोपंने तं च अनुविधियंति (३१) तेन वडिता च

१९. वडिसंति च मातापितुसु सुसुसाया गुलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटीपतिया

बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया (३२) देवानंपिय........यदसि लाजा हेवं आहा (३३) मुनिसानं चु या इयं धंमवडि वडिता दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च (३४)

२०. तत चु लहु से धंमनियमे निझतिया व भुये (३५) धंमनियमे चु खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि (३६) अंनानि पि चु बहुकं.........धंमनियमानि यानि मे कटानि (३७) निझतिया व चु भुये भुनिसानं धंमवडि वडिता अविहिंसाये भुतानं

२१. अनालंभाये पानानं (३८) से एताये अथाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदमसुलिपिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति (३९) हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदत पालते आलधे होति (४०) सतविसतिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिवि लिखापापिता ति (४१) एतं देवानंपिये आहा (४२) इयं

२२. धंमलिबि अत अथि सिलाथंभानि वा सिला फलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया (४३)

●

क्या ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति थी?

शौरसेनी एवं किसी सीमा तक महाराष्ट्री प्राकृत की भी यह विशेषता है कि उसमें "नो ण: सर्वत्र" अर्थात् सर्वत्र 'न' का 'ण' होता है (प्राकृतप्रकाश, २/४२)। जबकि अर्धमागधी में 'न' और 'ण' दोनों विकल्प से पाये जाते हैं। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से भिन्न शौरसेनी की दूसरी अपनी निजी विशेषता यह है कि उसमें मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' का सदैव 'द्' (तृतीय वर्ण) हो जाता है। किन्तु जब अभिलेखीय प्राकृत विशेष रूप से अशोक, खारवेल और मथुरा के जैन अभिलेखों में ये विशेषताएँ परिलक्षित नहीं हुई, तो शौरसेनी की अतिप्राचीनता का दावा खोखला सिद्ध होने लगा। अत: अपने बचाव में डॉ० सुदीप जैन ने आधारहीन एक शगुफा छोड़ा या आधारहीन तथ्य प्रस्तुत किया और वह भी भारतीयलिपिविद् और पुरातत्त्ववेत्ता पं० गौरीशंकरजी ओझा के नाम से, कि ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। किन्तु उन्होंने उनके इस कथन का कोई भी प्रमाण या सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं किया। मुझे तो ऐसा लगता है कि सुदीपजी को जब कभी अपने समर्थन में अप्रामाणिक रूप से कुछ गोलमाल करना होता है, तो वे किसी बड़े व्यक्ति का नाम दे देते हैं, किन्तु यह उल्लेख नहीं करते कि उनका यह कथन अमुक पुस्तक के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर है। वरिष्ठ विद्वानों के नाम से बिना प्रमाण के भ्रामक प्रचार करना उनकी विशेषता है। मैंने जब अपने लेखों 'न' और 'ण' में प्राचीन कौन?" और "अशोक के अभिलेखों की भाषा" में यह सिद्ध कर दिया कि प्राकृत में 'न' का प्रयोग ही प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है तो उन्होंने पं०ओझा के नाम से अपने सम्पादकीय में बिना प्रामाणिक सन्दर्भ दिये यह लिखना प्रारम्भ कर दिया कि ईसा पूर्व के ब्राह्मी शिलालेखों में 'न' वर्ण और 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था। डॉ० सुदीपजी इस सम्बन्ध में **प्राकृतविद्या,** अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर एवं जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ७-८ पर क्रमश: लिखते हैं कि —

"इसी प्रकार प्राकृत के 'नो ण: सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में **प्रायश:** 'न' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व० ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषत: ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों

के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। जैसे कि अंग्रेजी में 'N' का प्रयोग 'न्' एवं 'ण्' दोनों के लिए होता है। तब उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में णकार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण' पढ़ा जा सकता है तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'ण' का प्रयोग नहीं है। कई साहसी विद्वान् तो इसके बारे में यहाँ तक कह गये हैं कि प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुत: एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।

जो विद्वान् ईसापूर्व के शिलालेखों में नकार के प्रयोग का प्रमाण देते हैं, वे वस्तुत: शिलालेखों एवं प्राकृत के इतिवृत्त से वस्तुत: परिचित ही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि ईसापूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न' वर्ण एवं 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था - यह तथ्य महान् लिपि विशेषज्ञ एवं पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' में स्पष्टत: घोषित किया है।"

१. इस सन्दर्भ में प्रथम आपत्ति तो यही है कि यदि पं० गौरीशंकरजी ओझा ने ऐसा लिखा है तो भाई सुदीप जी ससन्दर्भ उसे उद्धृत क्यों नहीं करते, कि पं० ओझाजी ने यह अमुक ग्रन्थ के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर यह लिखा है? या तो वे इसका स्पष्ट रूप से प्रमाण दें, अन्यथा विद्वानों के नाम से व्यर्थ भ्रम न फैलायें।

२. उन्होंने पं० गौरीशंकरजी ओझा का नाम लेकर इस बात को कि ईस्वी पूर्व के शिलालेखों में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था— **प्राकृतविद्या,** अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर और **प्राकृतविद्या,** जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ८ पर उद्धृत किया है। प्राकृतविद्या, अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर ओझाजी के नाम से वे लिखते हैं "प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषत: ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी"। जबकि **प्राकृतविद्या,** जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ८ पर वे लिखते हैं कि "ईसापूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न' वर्ण और 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था"। इन दोनों स्थानों पर कथ्य चाहे एक हो, किन्तु उनका भाषायी प्रारूप भिन्न-भिन्न है। किसी भी व्यक्ति का कोई भी उद्धरण चाहे कितनी ही बार उद्धृत किया जाये उसका भाषायी स्वरूप एक ही होता है। यहाँ इस विभिन्नता का तात्पर्य यही है कि वे पं० ओझाजी के कथन को अपने ढंग से तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे सुदीपजी इस विधा में पारंगत हैं, वे बिना प्रामाणिक सन्दर्भ के किसी भी बड़े विद्वान् के नाम पर

कुछ भी तोड़-मरोड़ कर कह देते हैं। किन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि पं० गौरीशंकरजी ओझा दिवंगत हैं, उनके सन्दर्भ में जो कुछ लिखें, उसके लिए उनके ग्रन्थ, संस्करण और पृष्ठ संख्या का अवश्य उल्लेख करें; क्योंकि अपनी पुस्तक **भारतीय प्राचीन लिपिमाला** के लिपि पत्र क्रमांक १,४,६ (सभी ई०पू०) में स्वयं ओझा जी ने ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' की आकृतियों में रहे अन्तर को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। अशोक के अभिलेखों में गिरनार अभिलेख के आधार पर निर्मित लिपिपत्र क्रमांक १ (ईसा पूर्व ३री शती) में उन्होंने 'न' और 'ण' की आकृतियों का यह अन्तर निर्दिष्ट किया है, उसमें 'न' के लिए ⊥ और 'ण' के लिए I ये आकृतियाँ हैं इस प्रकार दोनों आकृतियों में आंशिक निकटता तो है, किन्तु दोनों एक नहीं है। पुनः स्व० ओझाजी ने अशोक के अभिलेख का जो 'लिप्यन्तरण' किया है उसमें भी कहीं भी उन्होंने 'ण' नहीं पढ़ा सर्वत्र उसे ⊥ अर्थात् न ही पढ़ा है।

मात्र यही नहीं उन्होंने इस लिपिपत्र में 'न' के दो रूपों ⅄ एवं ⊥ का भी निर्देश किया है और मात्र इतना ही नहीं उन्होंने यह भी बताया है कि मात्रा लगने पर दन्त्य न और मूर्धन्य ण की आकृतियाँ किस प्रकार बनती हैं यथा— नि ⊥ नु ⅄ नो ⊥। इसके विपरीत मूर्धन्य ण पर ए की मात्रा लगने पर जो आकृति बनती है, वह बिल्कुल भिन्न है यथा णे I। इससे यह सिद्ध होता है कि अशोक के काल में ब्राह्मी लिपि में न और ण की आकृति एक नहीं थी। ज्ञातव्य है कि अशोक के अभिलेखों में जहाँ गिरनार के अभिलेख में न (⊥) और ण (I) दोनों विकल्प से उत्कीर्ण मिलते हैं, वहाँ उत्तर-पूर्व के अभिलेखों में प्रायः न (⊥) ही मिलता है। यह तथ्य पं० ओझाजी के लिपिपत्र दो से सिद्ध होता है। लिपिपत्र तीन जो रामगढ़, नागार्जुनी गुफा, भरहुत और सांची के स्तूप-लेखों पर आधारित है उसमें भी 'न' और 'ण' दोनों की अलग-अलग आकृतियाँ हैं— उसमें न के लिए I और ण के लिए Ψ आकृतियाँ हैं। ई०पू० दूसरी शताब्दी से जब अक्षरों पर सिरे बाँधना प्रारम्भ हुए तो न और ण की आकृति समरूप न हो जाये इससे बचने हेतु 'ण' की आकृति में थोड़ा परिवर्तन किया गया और उसे किञ्चित भिन्न प्रकार से लिखा जाने लगा --

न ⊥ नि ⊥ नो ⊥

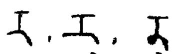
ण I णी I णो I

इसी प्रकार लिपिपत्र चौथे से भी यही सिद्ध होता है कि ई०पू० में ब्राह्मी अभिलेखों में न और ण की आकृतियाँ भिन्न थीं। लिपिपत्र पाँच जो पभोसा और मथुरा के ई०पू० प्रथम शती के अभिलेखों पर आधारित है उसमें जो लेख पं० ओझाजी ने उद्धृत किया है उसमें भी न और ण की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न ही हैं। साथ ही उसमें 'ण' का प्रयोग

विरल है। उस लेखांश में जहाँ पाँच बार 'न' का प्रयोग है वहाँ 'ण' का प्रयोग मात्र दो बार ही है अर्थात् ७० प्रतिशत **न** है और ३० प्रतिशत **ण** है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मथुरा जिसे शौरसेनी का उत्पत्ति स्थल माना जाता है और जहाँ की भाषा पर 'णो न: सर्वत्र' का सिद्धान्त लागू किया जाता है वहाँ भी ई०पू० प्रथम शती में जब यह स्थिति है तो उस तथाकथित शौरसेनी की प्राचीनता का दावा कितना आधारहीन है, यह स्वत:सिद्ध हो जाता है। मथुरा के अभिलेखों में ईसा की प्रथम-दूसरी शती तक भी 'णो न: सर्वत्र' और मध्यवर्ती 'त्' के 'द्' होने का दावा करने वाली उस तथाकथित शौरसेनी का कहीं अतापता ही नहीं है।

ई०सन् की प्रथम-दूसरी शती के लिपिपत्र सात के अवलोकन से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में विशेष रूप से नाशिक के शक उषवदात (ऋषभदत्त) के अभिलेख में न और ण की आकृति पूर्ववत् अर्थात्  और  के रूप में स्थिर रही है और इस लेखांश में ५४ प्रतिशत 'न' और ४६ प्रतिशत 'ण' के प्रयोग हैं तथा 'ण' के पाँच रूप और न के तीन रूप पाये जाते हैं— यथा

'ण' 

'न' 

इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है ईस्वी पूर्व तीसरी शती से अर्थात् जब से अभिलिखित सामग्री प्राप्त होती है 'न' और 'ण' के लिए ब्राह्मी लिपि में सदैव ही भिन्न-भिन्न आकृतियाँ रही हैं, जिसका स्पष्ट निर्देश पं०गौरीशंकरजी ओझा ने अपने उपरोक्त लिपिपत्रों में किया है अत: उनके नाम पर डॉ० सुदीपजी का यह कथन नितान्त मिथ्या है कि "जब ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था, तो उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाए?" जब न और ण के लिए प्रारम्भ से ही ब्राह्मी लिपि में अलग-अलग आकृतियाँ निश्चित हैं तो फिर 'न' को न और ण को ण ही पढ़ना होगा। पुन: जहाँ पूर्व एवं उत्तर भारत के अशोक के अभिलेखों में प्राय: 'ण' का अभाव है वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में क्वचित् रूप से 'ण' के प्रयोग देखे जाते हैं। किन्तु इस विश्लेषण से एक नया तथ्य यह भी ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश एवं पश्चिम भारत में भी 'ण' के प्रयोग में कालक्रम में भी अभिवृद्धि हुई है जहाँ उत्तर पूर्व एवं मध्य भारत के ई०पू० तीसरी शती के अशोक के अभिलेखों में 'ण' का प्राय: अभाव है, वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में 'ण' का प्रयोग १० प्रतिशत से कम है। उसके पश्चात् ई०पू० प्रथम शती के मथुरा और पभोसा के अभिलेखों में 'ण' का प्रयोग २५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत मिलता है, किन्तु इसके लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् पश्चिम-दक्षिण में नासिक के अभिलेख में यह बढ़कर ५० प्रतिशत हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि 'ण'कार प्रधान शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें 'न'कार

प्रधान मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा परवर्ती काल में विकसित हुई हैं। अत: मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी की प्राचीनता का तथा ब्राह्मी अभिलेखों में न और ण के लिए एक आकृति के प्रयोग का पं० ओझा जी के नाम से प्रचारित डॉ० सुदीपजी का दावा भ्रामक है।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला में पं० ओझाजी द्वारा ही प्रस्तुत उक्त तथ्य उनके इस भ्रम को तोड़ने में पर्याप्त है कि प्राचीनकाल में ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही लिपि का प्रयोग होता था। डॉ० सुदीप जी ने पं० ओझा के मन्तव्य को किस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा है, यह तथ्य तो मुझे ओझाजी की पुस्तक **भारतीय प्राचीन लिपिमाला** के आद्योपान्त अध्ययन के बाद ही पता चला।

लिपिपत्र ६७ जो खरोष्ठी लिपि से सम्बन्धित है, के विवेचन में **भारतीय प्राचीन लिपिमाला**, पृ० १०० पर पं० ओझा लिखते हैं कि "यह लिपिपत्र क्षत्रप राजुल के समय के मथुरा से मिले हुए सिंहाकृति वाले स्तम्भ सिरे के लेखों, तक्षशिला से मिले हुए क्षत्रप पतिक के ताम्रलेख और वहीं से मिले हुए एक पत्थर के पात्र पर के लेख से तैयार किया गया है। इस लिपिपत्र के अक्षरों में 'उ' की मात्रा का रूप ग्रन्थि बनाया है और 'न' तथा 'ण' में बहुधा स्पष्ट अन्तर नहीं पाया जाता है। मथुरा के लेखों में कहीं-कहीं 'त' 'न' तथा 'र' में भी स्पष्ट अन्तर नहीं है।" इसके पश्चात् ओझाजी ने एक अभिलेख का वह अंश दिया जिसका नागरी अक्षरान्तर इस प्रकार है —

'सिहिलेन सिहरछितेन च भतरेहि तखशिलाए अयं युवो प्रतिथवितो सवबुधन पुयए'

इसकी पादटिप्पणी में पुन: ओझाजी लिखते हैं कि— "सिहिलेन से लगाकर पुयए" तक के इस लेख में तीन बार ण या न आया है, जिसको दोनों तरह से पढ़ सकते हैं, क्योंकि उस समय के आस-पास के खरोष्ठी लिपि के कितने लेखों में 'न' और 'ण' में स्पष्ट भेद नहीं पाया जाता।

पं० ओझा जी के शब्दों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जो बात उन्होंने खरोष्ठी लिपि के सन्दर्भ में कही है, उसे सुदीपजी ने कैसे ब्राह्मी पर लागू कर दिया? **प्राकृतविद्या,** अप्रैल-जून १९९७ में वे बड़े दावे के साथ लिखते हैं कि "प्राचीन भारतीय लिपि विशेषत: ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी।" या तो वे इस तथ्य को ही कहीं प्रमाण रूप से प्रस्तुत करें अथवा वरिष्ठ विद्वानों के नाम से अपने पक्ष के समर्थन में भ्रामक रूप से तोड़-मरोड़ कर तथ्यों को प्रस्तुत न करें। यह लिपिपत्र एवं लेख सभी खरोष्ठी से सम्बन्धित है। पुन: यहाँ भी ओझाजी ने स्वयं 'न' ही पढ़ा है, 'ण' नहीं, मात्र पादटिप्पणी में अन्य सम्भावना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिया है। इसे भी 'न' ही क्यों पढ़ा जाए 'ण' क्यों नहीं पढ़ा

जाये इसके भी कारण है। सर्वप्रथम तो हमें उस लेख की भाषा के स्वरूप, क्षेत्र एवं काल का विचार करना होगा, फिर यह देखना होगा कि उस काल में उस क्षेत्र में किस प्रकार की भाषा प्रचलित थी क्योंकि देश और काल के भेद से भाषा का स्वरूप बदलता है और उसकी उच्चारण शैली भी बदलती है।

पं० जगमोहन वर्मा (प्राचीन भारतीय लिपिमाला, पृ० ३०) का तो यहाँ तक कहना है कि ट,ठ,ड,ढ,ण -- ये मूर्धन्य वर्ण पाश्चात्य अनार्यों के प्रभाव से भारतीय आर्य भाषा में सम्मिलित किये गये। उनकी यह अवधारणा कितनी सत्य है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु आनुभाविक स्तर पर इतना तो सत्य है उत्तर-पश्चिम की बोलियों और भाषाओं में आज भी इनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता हैं। प्राकृतों में भी परवर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों में ही अपेक्षाकृत इनका प्रयोग अधिक होता है।

खरोष्ठी लिपि में 'न' को मूर्धन्य 'ण' पढ़ा जाये अथवा दन्त्य 'न' पढ़ा जाये, इसका समाधान यह है कि जहाँ तक साहबाजगढ़ी और मान्सेरा के अशोक के अभिलेखों का प्रश्न है, वे चाहे खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं, किन्तु उनकी भाषा मूलत: मागधी ही है, अत: उस काल की मागधी भाषा की प्रकृति के अनुसार उनमें आये हुए 'न' को दन्त्य 'न' ही पढ़ना होगा। पुन: वे ही लेख जिन-जिन स्थानों पर ब्राह्मीलिपि उत्कीर्ण हुए है और यदि वहाँ उनमें आये 'न' को यदि दन्त्य 'न' के रूप में उत्कीर्ण किया गया है, तो यहाँ भी हमें उन्हें दन्त्य 'न' के रूप में पढ़ना होगा, क्योंकि उच्चारण/पठन भाषा की प्रकृति के आधार पर होता है, लिपि की प्रकृति के आधार पर नहीं। आज भी अंग्रेजी में उच्चारण भाषा की प्रकृति के आधार पर ही होता है। अक्षर की आकृति के आधार पर नहीं। उदाहरणार्थ 'C' का उच्चारण कभी 'क' कभी 'श' और कभी 'च' होता है। यहाँ भी हमें यह स्वतन्त्रता नहीं है कि अपनी इच्छा से कोई भी उच्चारण कर लें।

एक दूसरा उदाहरण लें, यदि संस्कृत या हिन्दी भाषा का कोई शब्द रोमन में लिखा गया है और यदि उसके लेखन में डाईक्रिटिकल चिह्नों का उपयोग नहीं किया गया है तो हमें उन रोमन वर्णों का उच्चारण संस्कृत या हिन्दी की प्रकृति के आधार पर करना होगा, रोमन लिपि के आधार पर नहीं। अत: मागधी भाषा के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये लेख का उच्चारण तो मागधी की प्रकृति के आधार पर ही होगा और मागधी की प्रकृति के आधार पर वहाँ 'न' ही पढ़ना होगा, 'ण' नहीं।

पुन: खरोष्ठी लिपि में पैशाची प्राकृत के भी लेख हैं, उनका उच्चारण पैशाची प्राकृत के आधार पर ही होगा। ज्ञातव्य है कि पैशाची प्राकृत में तो 'ण' का भी 'न' होता है। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर स्वयं डॉ० सुदीपजी द्वारा उद्धृत **प्राकृतशब्दानुशासन** का सूत्र दे रहा हूँ — न णो: पैशाच्यां (३/२/४३) अर्थात्

पैशाची प्राकृत में 'ण' का भी 'न' होता है अत: पैशाची प्राकृत के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये अभिलेखों में, चाहे वहाँ लिपि में 'ण' और 'न' में अन्तर नहीं हो, वहाँ भी पैशाचीप्राकृत की प्रकृति के अनुसार वह 'न' ही है और उसे 'न' ही पढ़ना होगा।

इसके अतिरिक्त एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पैशाची प्राकृत में 'न' और 'ण' की अलग व्यवस्था न हो और उसमें सर्वत्र 'न' का प्रयोग विहित हो तथा इसी कारण परवर्ती खरोष्ठी अभिलेखों में 'ण' के लिए कोई अलग से लिप्यक्षर न हो, किन्तु अर्धमागधी में 'न' और 'ण' दोनों विकल्प पाये जाते हैं, अत: अशोक के मागधी के अभिलेख जब मान्सेरा और शाहबाजगढ़ी में खरोष्ठी में उत्कीर्ण हुए तो उनमें 'ण' और 'न' के लिए अलग-अलग लिप्यक्षर निर्धारित हुए हैं। पं० ओझा जी ने भी अपनी पुस्तक में खरोष्ठी के प्रथम लिपिपत्र क्रमांक ६५ में 'ण' और 'न' के लिए अलग-अलग लिप्यक्षरों का निर्देश किया है। मात्र यही नहीं उस लिपिपत्र में उन्होंने 'ण' की दो आकृतियों का एवं 'न' की चार आकृतियों का उल्लेख किया है --

ण = + 

न 

इस आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि में भी ई०पू० तीसरी शती में 'न' और 'ण' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ रही हैं। पुन: जब कोई किसी दूसरी भाषा के शब्द रूप किसी ऐसी लिपि में लिखे जाते, जिसमें उस भाषा में प्रयुक्त कुछ स्वर या व्यञ्जन नहीं होते हैं, तो उन्हें स्पष्ट करने के लिए उसकी निकटवर्ती ध्वनि वाले स्वर एवं व्यञ्जन की आकृति में कुछ परिवर्तन करके उन्हें स्पष्ट किया जाता है जैसे रोमन लिपि में ङ, ञ, ण, का अभाव है, अत: उसमें इन्हें स्पष्ट करने के लिए में कुछ विशिष्ट संकेत चिह्न जोड़े गये यथा— यह स्थिति खरोष्ठी लिपि में रही है, जब उन्हें मागधी के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण करना हुए उन्होंने न () की आकृति में आंशिक परिवर्तन कर 'ण' () की व्यवस्था की।

अत: खरोष्ठी में भी जब अशोक के अभिलेख लिखे गये तो न और ण के अन्तर का ध्यान रखा गया। अत: पं० ओझा जी के नाम पर यह कहना कि प्राचीन लिपि में 'ण' और 'न' के लिए एक लिप्यक्षर प्रयुक्त होता था नितान्त भ्रामक है। पुन: प्राचीन लिपियों में 'ण' एवं 'न' के लिए अलग-अलग आकृतियां मिलने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि प्राचीन प्राकृतों में 'ण' का प्राधान्य था। मागधी आदि प्राचीन प्राकृतों में प्राधान्य तो 'न' का ही था, किन्तु विकल्प से कहीं-कहीं 'ण' का प्रयोग होता था। प्राकृतों में मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग क्रमश: किस प्रकार बढ़ता गया इसकी चर्चा भी हम शिलालेखों के आधार पर पूर्व में कर चुके हैं।

संक्षेप में ब्राह्मीलिपि के अशोककालीन मागधी अभिलेखों में प्रारम्भ से ही जब 'न' और 'ण' की स्वतन्त्र आकृतियाँ निर्धारित हैं तो उनमें उत्कीर्ण 'न' को 'ण' नहीं पढ़ा जा सकता है, पुन: खरोष्ठी लिपि में भी मागधी और पैशाची प्राकृतों की प्रकृति के अनुसार 'न' ही पढ़ना होगा।

भाई सुदीपजी ने **प्राकृतविद्या,** अप्रैल-जून १९९७ के 'सबसे बड़ा अभिशाप : अंगूठा छाप' नामक शीर्षक से प्रकाशित सम्पादकीय में लिखा है —

"इसी प्रकार प्राकृत के 'नो ण: सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायश: 'न' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व० ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषत: ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। जैसे कि अंग्रेजी में 'N' का प्रयोग 'न्' एवं 'ण्' दोनों के लिए होता है। तब उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में णकार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण' पढ़ा जा सकता है; तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुत: एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।"

उनकी ये स्थापनाएँ कितनी निराधार और भ्रान्त है यह उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है —

१. नो ण: सर्वत्र के नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायश: 'न' पाठ की उपलब्धि है - जो उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है। अत: शिलालेखीय प्राकृत मागधी/अर्धमागधी के निकट है और उसमें शौरसेनी के दोनों विशिष्ट लक्षण दन्त्य 'न' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' और मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का अभाव है।

२. ब्राह्मी लिपि में प्रारम्भिक काल से 'न' और 'ण' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ रही हैं। यह बात पं० गौरीशंकरजी ओझा के **भारतीयप्राचीनलिपिमाला** पुस्तक के लिपिपत्रों से ही सिद्ध हो जाती है। अत: उनके नाम से यह प्रचार करना कि प्राचीन ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) का प्रयोग होता था — भ्रामक और निराधार है।

शीर्षस्थ विद्वानों के कथन को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर अपनी बात को सिद्ध करना बौद्धिक अप्रामाणिकता है और लगता है कि भाई सुदीपजी किसी आग्रहवश ऐसा करते जा रहे हैं। वे एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए एक के बाद एक असत्यों का प्रतिपादन करते जा रहे हैं।

३. पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अभिलेखों के जो भी पाठ निर्धारित किये हैं वे सुविचारित और प्रामाणिक हैं, उन्हें अप्रामाणिक कहने के पूर्व उनका व्यापक तुलनात्मक एवं तटस्थ अध्ययन होना आवश्यक है। दूसरों को 'अंगूठा छाप' कहने के पहले हमें अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना चाहिए।

४. जो बात पं० ओझा जी ने खरोष्ठी लिपि के लिपिपत्र ६७ सम्बन्ध में कही हो, उसे उनकी कृति का अध्ययन किये बिना, बिना प्रमाण के ब्राह्मी के सम्बन्ध में कह देना सुदीप जी के अज्ञान, अप्रामाणिकता और पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही प्रकट करता है। इस प्रकार के अपरिपक्व और अप्रामाणिक लेखन से 'अंगूठाछाप' कौन सिद्ध होगा, यह विचार कर लेना चाहिए।

५. प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है - इसकी सिद्धि तो अभिलेखों विशेष रूप से शौरसेन प्रदेश एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में प्रारम्भ में 'ण' की अनुपस्थिति और फिर उसके बाद कालक्रम में उसके प्रतिशत में हुई वृद्धि आदि से ही हो जाती है जिसकी प्रामाणिक चर्चा पं० ओझा जी की पुस्तक के आधार पर हम कर चुके हैं। अत: प्राकृत में 'न' का अथवा विकल्प से न और ण का प्रयोग प्राचीन है और 'नो ण: सर्वत्र' का सिद्धान्त और उसको मान्य करने वाली प्राकृतें परवर्ती हैं, यह एक सुविचारित तथ्यपूर्ण निर्णय है।

६. रही बात विवाद उठाने की और सदाशयता की, तो सुदीप जी स्वयं ही बतायें कि शौरसेनी को प्राचीन बताने की धुन में 'अर्धमागधी आगम साहित्य पर नकल करके कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में शौरसेनी आगमों से निर्मित 'जैसे मिथ्या आरोप किसने लगाये, विवाद किसने प्रारम्भ किया और सदाशयता का अभाव किसमें है। क्या जो व्यक्ति व्यंग में अपनी पत्रिका के सम्पादकीय में विद्वानों को अंगूठाछाप बताये और उनकी तुलना बिच्छु से करे, उसे सदाशयी माना जायेगा, स्वयं ही विचारणीय है।

वस्तुत: ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति होती है - यह कह कर भाई सुदीप जी ने शौरसेनी की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पं० ओझा जी के नाम पर एक छक्का मारने का प्रयास किया, उन्हें क्या पता था कि 'कैच' हो जायेगा और 'आउट' होना पड़ेगा।

ओड्मागधी प्राकृत : एक नया शगुफा

जब अभिलेखीय प्राकृत को शौरसेनी प्राकृत सिद्ध करने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ, तो डॉ० सुदीप जी ने अभिलेखीय प्राकृत को ओड्मागधी प्राकृत बताने का एक नया शगुफा छोड़ा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने **प्राकृत विद्या**, अप्रैल-जून १९९८ में 'ओड्मागधी प्राकृत : एक परिचयात्मक अनुशीलन' नामक लेख लिखा। आश्चर्य यह है कि प्राकृत भाषा के ढ़ाई हजार वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में आज तक एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ, जिसने ओड्मागधी प्राकृत का कहीं संकेत भी किया हो। विभिन्न प्राकृतों के विशिष्ट लक्षणों का निर्देश करने के लिए अनेक प्राकृत व्याकरण लिखे गये, किन्तु किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई नामोल्लेख भी नहीं किया। यह डॉ० सुदीप जी की अनोखी सूझ है कि उन्होंने एक ऐसी प्राकृत का निर्देश किया जिसका बड़े-बड़े प्राकृत भाषाविदों, इतिहासकारों और वैयाकरणों को भी अता-पता नहीं था। निश्चित ही ऐसी अद्भुत खोज के लिए वे विद्वत् वर्ग की बधाई के पात्र होते। किन्तु इसके लिए हमें यह तो निश्चित करना होगा कि क्या यह एक तथ्यपूर्ण खोज है या मात्र एक शगुफा।

डॉ० सुदीपजी ने ओड्मागधी प्राकृत की पुष्टि के लिए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य की चार प्रकार की वृत्तियों—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणत्या, (३) पञ्चाली, और (४) ओड्मागधी का निर्देश किया है, मात्र यही नहीं इन वृत्तियों (नाट्यशैलियों) की चर्चा करते हुए उन्होंने इनके विस्तार क्षेत्र की भी चर्चा की है और ओड्मागधी वृत्ति का क्षेत्र सम्पूर्ण पूर्वी भारत बताया है, जो वर्तमान में पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में ब्रह्म देश तक और उत्तर में नेपाल से लेकर दक्षिण में बंगाल और दक्षिणी उड़ीसा के समुद्रतट तक बताया है। लेकिन यहाँ जिस ओड्मागधी वृत्ति की चर्चा की गयी है, वह एक नाट्य-विधा या नाट्य शैली है। यह ठीक है कि वृत्ति या शैली का सम्बन्ध उस क्षेत्र की वेशभूषा, बोलचाल, आचार-पद्धति एवं वाणिज्य-व्यवसाय आदि से होता है, वह एक संस्कृति को प्रस्तुत करती है, जिसमें उपरोक्त तथ्य भी सन्निहित होते हैं। फिर भी **ओड्मागधी एक नाट्यशैली है न कि एक भाषा**। भरतमुनि ने कहीं भी उसका उल्लेख एक भाषा के रूप में नहीं किया है। यह डॉ० सुदीप की भ्रामक कल्पना है कि एक नाट्यशैली को वे एक भाषा सिद्ध कर रहे हैं। आज जैसे ओडीसी एक

नृत्य शैली है। आज यदि कोई 'ओडिसी' शैली को भाषा कहे, तो वह उसके अज्ञान का ही सूचक होगा। उसी प्रकार ओड्मागधी, जो एक नाट्यशैली रही है उसको एक भाषा कहना एक दुस्साहस ही होगा जो डॉ० सुदीपजी ही कर सकते हैं। यदि ओड्मागधी नामक कोई भाषा होती तो दो हजार वर्ष की इस अवधि में संस्कृत एवं प्राकृत का कोई न कोई विद्वान् तो उसका भाषा के रूप में उल्लेख करता अथवा संस्कृत-प्राकृत भाषा के किसी व्याकरण में उसके लक्षणों की कोई चर्चा अवश्य हुई होगी। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जहाँ भी ओड्मागधी का उल्लेख किया है, उसे एक नृत्यशैली के रूप में ही प्रस्तुत किया है, कहीं भी उसका भाषा के रूप में उल्लेख नहीं किया। यह बात भिन्न है कि नृत्यशैली में भी वेशभूषा, भाषा आदि सांस्कृतिक तत्त्व अन्तर्निहित होते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ओड्मागधी नामक कोई भाषा थी। वस्तुतः ओड्मागधी एक वृत्ति, प्रवृत्ति या शैली ही थी। भरतमुनि और उनके टीकाकारों और व्याख्याकारों ने सदैव ही उसका नाट्यशैली के रूप में उल्लेख किया है, भारतीय वाङ्मय में ऐसा एक भी सन्दर्भ नहीं है, जो ओड्मागधी को एक भाषा के रूप में उल्लेखित करता हो।

वस्तुतः ओड्मागधी है क्या? वह ओड् और मागधी इन दो शब्दों से बना एक संयुक्त शब्द रूप है, इसमें ओड् वर्तमान उड़ीसा प्रदेश की और मागधी मगध प्रदेश की नाट्यशैली की सूचक है। उड़ीसा और मगध प्रदेश की मिश्रित नाट्य शैली को ही ओड्मागधी कहा गया है जो सम्पूर्ण पूर्वीय भारत में प्रचलित थी। वह एक मिश्रित नाट्यशैली मात्र है। किन्तु डॉ० सुदीपजी उसे भाषा मान बैठे हैं, वे **प्राकृत-विद्या,** अप्रैल-जून १९९८ में पृ० १३-१४ पर लिखते हैं— "ओड्मागधी प्राकृत भाषा का ईसा पूर्व के वृहत्तर भारतवर्ष के पूर्वी क्षेत्र में पूर्णतः वर्चस्व था, यह न केवल इन क्षेत्रों में बोली जाती थी अपितु साहित्य लेखन आदि भी इसी में होता था। इसीलिए सम्राट खारवेल का कलिंग अभिलेखन (हाथी-गुफा अभिलेख) भी इसी ओड्मागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध है"।

प्रथमतः तो ओड्मागधी मात्र नाट्यशैली थी, भाषा नहीं क्योंकि आज तक एक भी विद्वान् ने इसका भाषा के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है। पुनः जैसाकि भाई सुदीपजी लिखते हैं कि इसमें साहित्य लेखन होता था तो वे ऐसे एक भी ग्रन्थ का नामोल्लेख भी करें, जो इस ओड्मागधी में लिखा गया हो। पुनः यदि बकौल उनके इसे एक भाषा मान भी लें तो यह उड़ीसा और मगध क्षेत्र की बोलियों के मिश्रित रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। क्योंकि सभी विद्वानों ने एक मत से यह माना है कि अर्धमागधी, मागधी और उसके समीपवर्ती प्रादेशिक बोलियों के शब्द रूपों से बनी एक मिश्रित भाषा है। उड़ीसा मगध का समीपवर्ती प्रदेश है अतः उसके शब्द स्वाभाविक रूप में उसमें सम्मिलित हैं। अतः ओड्मागधी, अर्धमागधी या उसकी एक विशेष विधा

के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तुतः डॉ० सुदीपजी को अर्धमागधी के नाम से ही घृणा है, उन्हें इस नाम को स्वीकार करने पर अपने साम्प्रदायिक अभिनिवेश पर चोट पहुंचती नज़र आती है। उनका इसके पीछे अर्धमागधी आगमों और उनके मानने वाले के प्रति वैमनस्य प्रदर्शित करने के अलावा क्या उद्देश्य है, मैं नहीं जानता?

उन्होंने हाथीगुम्फा अभिलेख को प्रादर्श मानकर उससे ओड्मागधी के कुछ लक्षण भी निर्धारित किये हैं, आएं देखें उनमें कितनी सत्यता है और वे अर्धमागधी के लक्षणों से किस अर्थ में भिन्न हैं। वे लिखते हैं कि "इस अभिलेख में सर्वत्र पद के प्रारम्भ में 'ण' वर्ण का प्रयोग हुआ है, तथा अन्त में 'न' वर्ण आया है, जबकि अर्धमागधी में पद के प्रारम्भ में 'न' वर्ण आता है तथा अन्त में 'ण' वर्ण आता है। वस्तुतः यह प्राचीन शौरसेनी जो कि दिगम्बर जैनागमों की मूलभाषा से प्रभावित मागधी का विशिष्ट रूप है। इससे दन्त्य सकार की प्रकृति, 'क' वर्ण का 'ग' वर्ण आदेश, 'थ' के स्थान पर 'ध' का प्रयोग एवं अकारान्त पु० प्रथमा एक वचनान्त रूपों में ओकारान्त की प्रवृत्ति विशुद्ध शौरसेनी का ही अमिट एवं मौलिक प्रभाव है।"

— **प्राकृत विद्या,** अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४.

प्रथमतः उनका यह कहना सर्वथा असत्य और अप्रामाणिक है कि इस अभिलेख में पद के प्रारम्भ में 'ण' वर्ण का प्रयोग हुआ है तथा पद के अन्त में 'न' वर्ण आया है। विद्वत् जनों के तात्कालिक सन्दर्भ के लिए हम नीचे हाथीगुम्फा खारवेल का अभिलेख उद्धृत कर रहे हैं --

Language : Prakrit resembling pali

Script : Brahmi of about the end of the 1st century B.C.

Text

१. नमो अरहंतानं (।) नमो सव-सिधानं (।।) ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेति-राज-व (।।) स-वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन चतुरंतलुठ (ण)-गुण-उपितेन कलिंगाधिपतिना सिरि-खारवेलेन

२. (प) दरस-वसानि सीरि- (कडार)- सरीर-वता कीडिता कुमार- कीडिका (।।) ततो लेख-रूप गणना-ववहार-विधि-विसारदेव सव-विजावदातेन नव-वसानि योवरज (प) सासितं (।।) संपुंण- चतुवीसिति- वसो तदानि वधमानसेसयो-वेनाभिविजयो ततिये

३. कलिंग राज वसे पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति (।।) अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरिखिबी (र) (।) सितल-तडाग-पाडियो च बंधापयति सवूयान-प (टि) संथपनं च

४. कारयति पनति (सि) साहि सत-सहसेहि पकतियो च रंजयति (।।) दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि पछिम-दिसं हय-गज-नर-रघ-बहुलं दंडं पठापयति (।) कन्हबेंणा-गताय च सेनाय वितासिति असिकनरं (।।) ततिये पुन वसे

५. गंधव-वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं (।।) तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहतपुवं कलिंग पुव राज (निवेसित) .... वितध म(कु)ट .... च निखित-छत

६. भिंगारे (हि)त रतन सपतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति (।।) पंचमे च दानी वसे नंद-राज-ति-वस-सत-ओ(घा) टितं तनसुलिय-वाटा पणाडिं नगरं पवेस (य) तिंसो .... (।।) (अ) भिसितो च (छटे वसे) राजसेयं संदंसयंतो सवकर-वण

७. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर जानपदं (।।) सतमं च वसं (पसा) सतो वजिरधर .... स मतुक पद (कु) म .... (।) .... अठमे च वसे महता सेन (ा) गोरधगिरिं

८. घातापयिता राजगह उपपीडपयति (।) एतिन (ा) च कंमपदान स (ा) नादेन .... सेन वाहने विपमुचितुं मधुरं अपयातो यवनरां (ज) (डिमित) .... यछति .... पलव ....

९. कपरूखे हय गज रथ सह यति सव-घरावास .... सवगहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज (य) परिहारं ददाति (।) अरहत .... (नवमे च वसे)

१०. .... महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय सत सहसेहि (।।) दसमे च वसे दंड संधी सा (ममयो) ( ) भरंधवस-पठा ( ) नं मह (ा) जयनं ( ) .... कारापयति (।।) (एकादसमे च वसे)............. प (ा) यातानं च म (नि) रतनानि उपलभते ( )

११. .... पुवं राज-निवेसितं पीथुंडं गदभ-नंगलेन कासयति (।) जन (प) दभावनं च तेरस वस सत कतं भि ( ) दति त्रमिर दह ( ) संघात (।) वारसमे च वसे .... (सह) सेहि वितासयति उतरापध राजानो ....

१२. म(ा) गंधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति (।) म (ाग) ध ( ) च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति (।) नंदराज-नीतं च का (लि) ग जिनं संनिवस .... अंग-मगध वसुं च नयति (।।)..............

१३. ....(क) तु ( ) जठर (लिखिल- (गोपु) राणि सिहराणि निवेसयति सत विसिकनं (प) रिहारेहि (।) अभुतमछरियं च हथी-निवा(स) परिहर ....

हय-हथि रतन (मानिक) पंडराजा ......:...... (मु) तमनि रतनानि आहरापयति इध सत (सहसानि)

१४. .... सिनो वसीकरोति (।) तेरसमे च वसे सुपवत विजय चके कुमारीपवते अरहते (हि) पखिन सं(सि) तेहि कायनिसीदियाय यापूजावकेहि राजभितिन चिन वतानि वास (I) (सि) तानि पूजानुरत उवा (सगा-खा) खेल सिरिना जीवदेह (सयि) का परिखाता (।।)

१५. .... सकत-समण सुविहितानं च सव दिसानं अ(नि) नं ( ) तपसि इ (सि) न संघियनं अरहतनिसीदिया समीपे पाभारे बराकार समुथापिताहि अनेकयोजना हिताहि........... सिलाहि ....

१६. .... चतरे च वेडुरिय गभे थंमे पतिठापयति पानतरीय सत सहसेहि (।) मु(खि)य कल वोछिनं च चोय(ठि) अंग संतिक ( ) तुरियं उपादयति (।) खेम राजा स वढ राजा स भिखु राजा धम राजा पसं (तो) सुनं (तो) अनुभव (तो) कलानानि

१७. .... गुण विसेस कुसलो सव पासंड पूजको सव दे (वाय) तन सकार कारको अपतिहत चक वाहनवलो चकधरो गुतचको पवतचको राजसिवसू कुल विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि (।।)

इस सम्पूर्ण अभिलेख में कहीं भी पद के प्रारम्भ में 'ण' और अन्त में 'न' नहीं है। इसके विपरीत पद के प्रारम्भ में 'न' एवं अन्त में 'न' या 'ण' वर्ण के अनेक उदाहरण हैं, जिसे वे अर्धमागधी की विशेषता स्वीकार करते हैं यथा —

नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं, महाराजेन लखनेन कलिगाधिपतिना, खारवेलेन, नववसाति, नगर, नत, वधमान, नंदराज, यवन, सातकंनि, निवेसितं, नयति, रतनानि, निसीदिया, चिनवतानि, वास (सि)तानि, खारवेल सिरिना सुविहतांब दिसानं आदि। अब अंत में ण के कुछ प्रयोग देखिये -- ऐरेण, संपुणं, गहणं (गोपुराणि, सिहराणि) समण, गुण कन्हवेणा आदि। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जहां मध्यवर्ती ण और अन्त में न है। जैसे ब्रह्माणान, लखणेन आदि। इन सब उदाहरणों से तो डॉ० सुदीपजी के अनुसार भी यह अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित ही सिद्ध होती है। पुनः इसमें दन्त्य स कार, क वर्ण का 'ग' आदेशतथा 'थ' के स्थान पर 'ध' का प्रयोग रूप जो विशेषताएँ हैं वह तो अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में भी मिलती है।

शौरसेनी के दो विशिष्ट लक्षण — न का सर्वत्र ण और मध्यवर्ती असंयुक्त त् का द् तो इसमें कही पाये ही नहीं जाते हैं। इसी प्रकार इसमें वर्धमान का वधमान रूप ही मिलता है न कि शौरसेनी का वड्ढमाण। इस प्रकार इसके शौरसेनी से प्रभावित होने का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है इसके विपरीत यह मागधी या अर्धमागधी से प्रभावित

है, इसके अनेकों अन्तःसाक्ष्य स्वयं इसी अभिलेख में हैं। पुनः कलिंग मगध के निकट है शूरसेन से तो बहुत दूर है अतः वहाँ की भाषा मागधी या अर्धमागधी से तो प्रभावित हो सकती है, किन्तु शौरसेनी से नहीं। अतः कलिंग के अभिलेख को भाषा को ओड्मागधी कहना और उसे दिगम्बर आगमों की तथाकथित विशुद्ध शौरसेनी से प्रभावित कहना पूर्णतः निराधार है।

खारवेल के अभिलेखों की भाषा को विद्वानों ने आर्षप्राकृत (अर्धमागधी का प्राचीन रूप) माना है और उसे पालि के समरूप बताया है। जैन आगमों में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), इसिभासियाइं आदि की और बौद्धपिटक में सुत्तनिपात एवं धम्मपद की भाषा से इसकी पर्याप्त समरूपता है। दोनों की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके कोई भी इसका परीक्षण कर सकता है। उसमें अर्धमागधी के अधिकांश लक्षण पाये जाते हैं, जबकि शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों जैसे सर्वत्र 'ण' का प्रयोग अथवा मध्यवर्ती त् का द्, का उसमें पूर्णतः अभाव है। सत्य तो यह है कि जब अभिलेखीय प्राकृतों को शौरसेनी सिद्ध करना सम्भव नहीं हुआ, तो उन्होंने ओड्मागधी के नाम से नया शगुफा छोड़ा। उनकी यह तथाकथित ओड्मागधी अर्धमागधी से किस प्रकार भिन्न है और उसके ऐसे कौन से विशिष्ट लक्षण हैं, जो प्राचीन अर्धमागधी (आर्ष) या पालि से भिन्न करते हैं, किस प्राकृत व्याकरण में किस व्याकरणकार ने उसके इन लक्षणों का निर्देश किया अथवा इसके नाम का उल्लेख किया है और कौन से ऐसे ग्रन्थ हैं, जो ओड्मागधी में रचे गये हैं? भाई सुदीप जी इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर प्रस्तुत करें। उनके अनुसार इस ओड्मागधी भाषा का निर्देश भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में है, तो फिर प्राचीनकाल से आज तक अनेकों प्राकृत-संस्कृत नाटक रचे गये, क्यों नहीं किसी एक नाटक में भी इस ओड्मागधी का निर्देश हुआ है जबकि उनमें अन्य प्राकृतों के निदर्शन हैं। यह सब सप्रमाण स्पष्ट करें अन्यथा आधारहीन शगुफे छोड़ना बन्द करें। इन शगुफों से वे चाहे साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त श्रद्धालुजनों को प्रसन्न कर लें, किन्तु विद्वत् वर्ग इन सबसे दिग्भ्रमित होने वाला नहीं है। डॉ० सुदीपजी का यह वाक्छल भी अधिक चलने वाला नहीं है। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यगण और वर्तमान युग के अनेक वरिष्ठ विद्वान् यथा पं० नाथूरामजी प्रेमी, प्रो० ए०एन० उपाध्ये, पं० हीरालाल जी, डॉ० हीरालाल जी, पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र जी आदि किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई निर्देश क्यों नहीं किया? सम्भवतः भाई सुदीपजी इन सबसे बड़े विद्वान् हैं, क्योंकि वे स्वयं ही लिखते हैं "आज के अधिकांश विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं" (**प्राकृत विद्या,** अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४)। चूंकि ये सभी आचार्यगण और विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते थे, क्योंकि जानते होते तो अवश्य निर्देश करते और भाई सुदीपजी उसके नाम और लक्षण दोनों जानते हैं, अतः ये उनसे बड़े

पण्डित और विद्वान् हैं। उनके और उनकी आधारहीन स्थापनाओं के सम्बन्ध में हम क्या कहें? पाठक स्वयं विचार कर लें।

वस्तुत: आजकल डॉ० सुदीपजी का मात्र एकसूत्रीय कार्यक्रम है, वह यह कि अर्धमागधी आगम साहित्य को कृत्रिम (बनावटी) रूप से पांचवीं शती में निर्मित कह कर उसके प्रति आस्थाशील श्वेताम्बर समाज की भावनाओं को आहत करना। इसलिए वे नित्य-नये शगुफे छोड़ते रहते हैं। उनके मन में अर्धमागधी और उसके साहित्य के प्रति कितना विद्वेष है यह उनकी शब्दावली से ही स्पष्ट है। वे **प्राकृत विद्या,** अप्रैल-जून १९९८ में पृ० १४-१५ पर लिखते हैं —

''कई आधुनिक विद्वान् तो इसे (हाथीगुम्फा शिलालेख को) अर्धमागधी में निबद्ध भी कहकर आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते हैं, वे यह तथ्य नहीं जानते हैं कि आज की कथित अर्धमागधी प्राकृत तो कभी लोकजीवन में प्रचलित ही नहीं रही है इसलिए लोक साहित्य और नाट्य साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग तक नहीं मिलता है। ईसापूर्व काल में इस भाषा का अस्तित्व नहीं था। यह तो पाँचवीं शताब्दी में वलभी वाचना के समय कृत्रिम रूप से निर्मित की गई भाषा है, यह अत्यन्त खेद की बात है कि आज के अधिकांश विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं। जिसे वे शौरसेनी से प्रभावित मागधी यानि अर्धमागधी कहते हैं वस्तुत: वह यही ओड्मागधी है, जो ईसा पूर्व काल में प्रचलित थी। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में यह अस्तित्व में आयी एवं कुछ लोगों द्वारा मिल बैठकर कृत्रिम रूप से बनायी गयी तथाकथित अर्धमागधी या आर्षभाषा नहीं थी। इसका नाम छिपाकर कृत्रिम अर्धमागधी भाषा पर ओड्मागधी प्राकृत की विशेषताओं का लेबिल चिपकाकर धुआंधार प्रचार करना एक झूठ को सौ बार बोलो तो वह सच हो जायेगा इस भ्रामक मानसिकता के कारण हुआ है। वस्तुत: यह तथाकथित कृत्रिम अर्धमागधी प्राकृत न तो लोकजीवन में थी, न लोकसाहित्य में थी, न किसी अभिलेख आदि में रही है और न ही व्याकरण एवं भाषाशास्त्र ने कभी इसे मान्यता दी है। कोरी नारेबाजी से कोई भाषा न तो बनती है और न चलती है। भरतमुनि कथित ओड्मागधी को अर्धमागधी बताकर बहुत दिनों तक चला लिया तथा इसे प्रमाण बताकर अर्धमागधी को ईसा पूर्व तक ले जाने का प्रयत्न भी किया। यहीं नहीं पद्यों में अर्धमागधी एवं ओड्मागधी— इन पदों में मात्रा एवं वर्णों की दृष्टि से कोई अन्तर न होने से यह छल बहुत समय तक चल भी गया, क्योंकि छन्दोभंग न होने से किसी ने एतराज नहीं किया।'' **प्राकृत विद्या,** अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४-१५.

डॉ० सुदीप जी के प्रस्तुत कथन के दो ही उद्देश्य हैं— प्रथम तो अपने पूर्ववर्ती सभी श्वेताम्बर, दिगम्बर विद्वानों और अन्य भाषाविदों को अल्पज्ञ एवं अज्ञानी सिद्ध करना है, क्योंकि वे सभी इनकी स्वैर कल्पना प्रसूत ओड्मागधी प्राकृत के नाम एवं

लक्षणों से पूर्णत: अनभिज्ञ रहे हैं। दो हजार से अधिक वर्षों के प्राकृत भाषा के इतिहास में कोई एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ है जिसने इस ओड्मागधी प्राकृत और इसके लक्षणों की कोई चर्चा की हो और तो और स्वयं भरतमुनि ने भी कहीं भी ओड्मागधी को प्राकृत भाषा नहीं कहा है, सर्वत्र उसे वृत्ति या प्रवृत्ति ही कहा है। सुदीप जी सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में एक भी ऐसा स्थल दिखा दें जहाँ ओड्मागधी प्राकृत का नाम आया हो और उसके लक्षणों की कोई चर्चा की गई हो। आजतक एक भी भाषावैज्ञानिक एवं व्याकरणकार भी ऐसा नहीं हुआ, जिसने इस ओड्मागधी की कहीं कोई चर्चा की हो, अत: सुदीप जी की दृष्टि में वे सभी मूर्ख थे। दूसरे आजतक जो विद्वान् अभिलेखीय प्राकृत को पालि एवं अर्धमागधी के समरूप मानते रहे अथवा जो ईसा पूर्व में अर्धमागधी का अस्तित्व मानते रहे और उसका प्रचार करते रहे वे सभी सुदीपजी की दृष्टि में मिथ्याभाषी, छलछद्म करने वाले और भ्रामिक मानसिकता के शिकार रहे हैं। आज भी देश-विदेश में ऐसे सैकड़ों विद्वान् हैं जिन्होंने अर्धमागधी आगमों और उनकी भाषा का अध्ययन करने में पूरा जीवन खपा दिया है। वकौल सुदीपजी के तो ओड्मागधी को ही छल से अर्धमागधी बना दिया गया है। किन्तु ये देश-विदेश के विद्वान्, क्या इतने मूर्ख रहे हैं कि इस छल को समझ भी नहीं सके। अर्धमागधी और उसके लक्षणों को ओड्मागधी बताने का छल कौन कर रहा है, यह तो स्वयं सुदीपजी विचार करें? यदि ओड्मागधी के वे ही लक्षण हैं, जो आर्षप्राकृत या अर्धमागधी के हैं, तो फिर उसे अर्धमागधी न कहकर ओड्मागधी कहने का आग्रह क्यों है? क्या केवल इसलिए कि अर्धमागधी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों की भाषा है। यह तो ऐसा ही हुआ कि हम तो नानी को कानी ही कहेंगे। पुन: अर्धमागधी को कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कहने का, उसे कुछ लोगों द्वारा मिल-बैठकर बनाने का सफेद झूठ सौ-सौ बार बोलने का प्रयास कौन कर रहा है? सम्भवत: वे स्वयं ही इस झूठ को सौ से अधिक बार तो **प्राकृतविद्या** में ही लिख चुके हैं— उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि सौ बार क्या हजार बार बोलने पर भी झूठ झूठ ही रहता है सच नहीं होता है। वे चाहे अर्धमागधी भाषा और उसके आगम साहित्य को कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कहते रहें, उसकी जिस प्राचीनता को देश-विदेश में सैकड़ों विद्वान् मान्य कर चुके हैं उस पर कोई आँच आने वाली नहीं है। वे अर्धमागधी को लोकजीवन और लोकसाहित्य में अप्रचलित होने का प्रतिपादन कर रहे हैं, किन्तु वे जरा यह तो बतायें कि उनकी स्वैर कल्पना प्रसूत तथाकथित ओड्मागधी प्राकृत में कितना साहित्य है, किस नाटक में इसका प्रयोग हुआ है, कौन से व्याकरणकार ने इसके नाम और लक्षणों का उल्लेख किया है? अर्धमागधी का आगम साहित्य तो इतना विपुल है कि उसमें युगीन लोकजीवन की सम्पूर्ण झांकी मिल जाती है। ओड्मागधी का भाषा के रूप में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है, उसे भाषा बना देना और जिस अर्धमागधी के भाषा के रूप में अनेकश: उल्लेख

हों और जिसका विपुल प्राचीन साहित्य हो, उसे नकार देना मिथ्या दुष्प्रचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है? इस सबके पीछे श्वेताम्बर साहित्य और समाज की अवमानना का सुनियोजित षड्यन्त्र है। अत: उन्हें आत्मरक्षा के लिए सजग होने की आवश्यकता है।

●

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में निहित अनेकान्त

अनेकान्तवाद को मुख्यत: जैनदर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन मुख्यत: उसके इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि अनेकान्तवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने की है। अत: अनेकान्तवाद को जैन दर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है; किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य भारतीय दर्शनों में इसका पूर्णत: अभाव है । सत्ता सम्बन्ध में अनेकान्त एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत–वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण-सीमित और सापेक्ष होती है अत: उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उन परस्पर विरोधी कथनों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। वस्तुत: अनेकान्तवाद या अनेकान्तिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है–

१. बहु–आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में ऐकान्तिक विचारों या कथनों का निषेध।

२. भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहु–आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति ।

३. परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार–धाराओं को समन्वित करने का प्रयास।

वेदों में प्रस्तुत अनेकान्त दृष्टि

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रयोजन उक्त अवधारणाओं के आधार पर जैनेतर भारतीय चिन्तन में अनैकान्तिक दृष्टिकोण कहाँ–कहाँ किस रूप में उल्लेखित है इसका दिग्दर्शन कराना है।

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। **ऋग्वेद** न केवल परमतत्त्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इनके मध्य समन्वय भी करता है। **ऋग्वेद** के नासदीयसूक्त (१०/१२९/१) में परमतत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई

अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तुतत्त्व की बहु-आयामिता और उसमें अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपद् उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेद काल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं ऋग्वेद का यह कथन-**''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं** (१/१६४/४६)'' परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनैकान्तिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद के काल से ही मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनैकान्तिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकान्त तो उतना ही पुराना है जितना **ऋग्वेद** का यह अंश। ऋग्वैदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्त्व के बहु-आयामी होने का पृष्ट खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते थे। **ऋग्वेद** के दशम मण्डल का नासदीय सूक्त (१०/१२९/१) इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है-

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योम परोयत्।

सत्य तो यह है कि उस परमसत्ता को जो समस्त अस्तित्व के मूल में है, सत्, असत्, उभय या अनुभय - किसी एक कोटि में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा निरपेक्ष नहीं) यही कारण है कि वैदिक ऋषि उस परमसत्ता या वस्तु तत्त्व को सत् या असत् नहीं कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं- यथा- **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं** (१/१६४/४६) और असत् भी कहते हैं यथा- **देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत** (१०/७२/३)। इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही अनेकान्त दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य और अनेकान्तवाद

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनेकान्तिक दृष्टि के उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के सन्दर्भ मिलते हैं।जब हम उपनिषदों में अनेकान्तिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं-

१. अलग–अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।

२. ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध ।

३. परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास ।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत् - इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२.७) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचारधारा की पुष्टि **छान्दोग्योपनिषद्** (३/१९/१) से भी होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत् वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी **छान्दोग्योपनिषद्** (६/२/१,३) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (१/४/१–४) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपञ्चात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूलतत्त्व जड़ है या चेतन इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर **बृहदारण्यकोपनिषद्** (२/४/१२) में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर **छान्दोग्योपनिषद्** (६/२/१,३) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्त्व) ही था दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊं और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२/६) से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयी हैं। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (३/८/८) में ऋषि कहता है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं हैं।' इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ–साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें

उपनिषदों में मिल जाते हैं। **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२/६) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त–अमूर्त, वाच्य–अवाच्य, विज्ञान (चेतन)– अविज्ञान (जड़), सत् –असत्, रूप है। इसी प्रकार **कठोपनिषद्** (१/२०) में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद् (३/१२) में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है तो वहीं दूसरी ओर उसे ज्ञान का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषदकारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (१/७) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषदकारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदकारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने उस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२) में यह कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (**यतो वाचो निवर्तन्ते ।। अप्राप्य मनसा सह ।।**) इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय– ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें **ईशावास्योपनिषद्** (४) में मिलता है। उसमें कहा गया है कि–

''अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्''

अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है। **''तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्विन्तिके''**, अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता

है, वह दूर भी है, वह पास भी है। इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्त्व, जड़त्व–चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने–अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस् में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग–पग पर अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही **''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्''** कहकर त्याग एवं भोग–इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर,बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार **ईशावास्य** सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी एकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए **ईशावास्य** (२) कहता है कि **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतों समाः''** अर्थात् मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धन कारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन–दृष्टि व्यावहारिक जीवन–दृष्टि है। भेद–अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है –

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। (ईशा० ६)

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहाँ जीवात्माओं में भेद एवं अभेद

दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (**ईशा०** १०) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (**ईशा०** १२) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (**ईशा०** ९) और वह जो दोनों को जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है (**ईशा०** ११)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहु आयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्य दर्शन और अनेकान्तवाद

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएं हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो मूल तत्त्व मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील है और दूसरा अपरिवर्तनशील। इसप्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त है। फिर भी उनमें एक सह-सम्बन्ध है। पुन: यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथकता अनुभूत कर चुका है। सामान्य संसारी जीव/पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामित्व दोनों ही मान्य किये जा सकते हैं। पुन: प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी नित्य मानी गई है अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुन: त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहते है। सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अत: मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे

से अधिक दूर नहीं हैं। सत्ता की बहु–आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकान्त है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्य को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में बुद्धि (महत्), अहंकार और पाँच तन्मात्राएं-प्रकृति और विकृति दोनों ही माने गये हैं। पुनः निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं । सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्त्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं। यद्यपि मुक्त पुरुष कूटस्थ नित्य है फिर भी संसार दशा में उसमें कर्तृत्व गुण देखा जाता है, चाहे वह प्रकृति के निमित्त से ही क्यों नहीं हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान–अज्ञान, कर्तृत्व–अकर्तृत्व, भोक्तृत्व -अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन **महाभारत** के आश्वमेधिक पर्व में अनुगीता के ४७ वें अध्ययन के ७ वें श्लोक में मिलता है–उसमें लिखा है–

यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ।।

अर्थात् जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकती है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यान्तिक भेद माने बिना मुक्ति/कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नहीं होगी, किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यान्तिक अभेद मानेगें तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभावकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सान्निध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार चाहे हम बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने, फिर भी जड़ प्रकृति के प्रति तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुत: द्वैतवादी दर्शनों– चाहे वे सांख्य हों या जैन, की कठिनाई यह है कि उन में तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया या आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती है। अत: किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकान्त की आधार भूमि है,जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार माने किन्तु संसारी पुरुष को उससे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। **योगसूत्र** साधनपाद के सूत्र २० के भाष्य में कहा गया है–

''स पुरुषो बुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्त विरूप इति। न तावत्स्वरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्-अस्तुतर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः, कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति।''

अत: प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्त्वों के बीच भेदाभेद यहीं बन्धन और मुक्ति की व्याख्याओं का आधार है।

योग दर्शन और अनेकान्तवाद

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरें शब्दों में धर्म और धर्मी में एकान्त भेद या एकान्त अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकान्तवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें **योगसूत्र भाष्य** में भी मिलता है–

''न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिता अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो ऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः । यथैक रेखा शत स्थाने शतं दश स्थाने दशैक चैकस्थाने। यथाचैकत्वेपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसाचेति।''

योगसूत्र विभूतिपाद १३ का भाष्य इसी तथ्य को उसमें इस प्रकार भी प्रकट किया गया है– **''यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्''** इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षा भेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वहीं रहता है। एक स्वर्णपात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण वही रहता है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वह वही रहता है अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकान्तवाद

का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं –

"अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयन्ति ।"

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकान्तवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं–

नह्यैकान्तिकेऽभेद धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मीरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनेकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यवर्तयन् प्रत्यात्ममनु भूयत इति।

एकान्त का निषेध और अनेकान्त की पुष्टि का योग दर्शन में इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता है। योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है। **योगसूत्र** के समाधिपाद का सूत्र ७ इसकी पुष्टि करता है–

सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य ।

इसी बात को किञ्चित् शब्द भेद के साथ विभूतिपाद के सूत्र ४४ में भी कहा गया है–

सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम् ।

मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता–अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है, जिस रूप में अनेकान्त दर्शन में । **महाभाष्य** के पंचममाह्निक में प्रतिपादित है–

द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रूचकाः क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृद्येन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योग दर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन और अनेकान्त

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थों की कल्पना की गई, वे हैं द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हें हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादी दृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र मानता है फिर भी उसे इनमें आश्रय आश्रयी भाव तो स्वीकार करना ही पड़ा है। ज्ञातव्य है कि जहाँ आश्रय–आश्रयी भाव होता है, वहाँ उनमें कथंचित् या सापेक्षिक

सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है, उन्हें एक से दूसरे पूर्णत: निरपेक्ष या स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। चाहे वैशेषिक दर्शन उन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र कहे, फिर भी वे असम्बद्ध नहीं हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य एवं गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, अनेकान्त है।

पुन: वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं। पुन: उनमें भी सामान्य के दो भेद किये — परसामान्य और अपरसामान्य। परसामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपरसामान्य हैं और अपरसामान्य होने से सामान्य विशेष उभय रूप है। **वैशेषिक सूत्र** (१/२/५) में कहा भी गया है–

"द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च"

द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद् सामान्य विशेष–उभय रूप मानना यही तो अनेकान्त है। द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्ट करते हुए **वैशेषिकसूत्र** (९/२/३) में कहा गया है–

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।

सामान्य और विशेष-दोनों ज्ञान, बुद्धि या विचार की अपेक्षा से हैं। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्त-पाद कहते हैं–

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति।

द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षा भेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टत: कहा है "सामान्यं विशेष संज्ञामपिलभते।" अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप में होकर सामान्य विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकान्त की प्रस्थापना है।

पुन: वस्तु सत् असत् रूप है इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं–

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत् – वैशेषिक सूत्र (९/१/४–५)

इसकी व्याख्या में उपस्कारकर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है–

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभाव: प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना-असन् गौरश्वात्मना-असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकान्त है जो वैशेषिको भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है।

न्यायदर्शन और अनेकान्तवाद

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने **न्यायसूत्र** (१/१/४१) के भाष्य में अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं-

एतच्च विरुद्धयोरेक धर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मी सामान्यगतो विरुद्धौधर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपतेः इत्यादि अर्थात् जब एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हों तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है,किन्तु जहाँ धर्मी सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहाँ पर तो उसे समुच्चय रूप अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिये । क्योंकि वहाँ पर तो वस्तु उसी रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यन्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से पाये जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य-विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन **न्यायसूत्र** (२/२/६६) की टीका में लिखते हैं-

यच्च केषांचिद् भेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्यविशेषो जातिरिति ।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किन्तु जब यह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहाँ जाति को जो सामान्य की वाचक है सामान्य-विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकान्तवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है उनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकान्त है।

सत्ता सत्-असत् रूप है यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य-कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्व पक्ष के रूप में **न्यायसूत्र** (४/१/४८) में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् ही कहा जा सकता है और न उभय रूप ही कहाँ जा सकता है, क्योंकि दोनों

में वैधर्म्य है–

नासन्न सन्नसदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है। किन्तु हम विस्तार में न जा कर संक्षेप में उनके उत्तरपक्ष को प्रस्तुत करेगें । उनका कहना है कि कार्य-उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है क्योंकि यदि सत् होता है तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता ? अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् अर्थात् सत् –असत् उभय रूप है यह बात बुद्धिसिद्ध है {विस्तृत विवेचना के लिए देखें **न्यायसूत्र** (४/१/४८–५०) की वैदिकमुनि हरिप्रसाद स्वामी की टीका}

मीमांसा दर्शन और अनेकान्तवाद- जिस प्रकार अनेकान्तवाद के सम्पोषक जैन धर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मी तो नित्य है, वह उन धर्मों की उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैन दर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है । यहाँ पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट **मीमांसाश्लोकवार्तिक** (२१-२३) में लिखते हैं—

वर्द्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ।।
हेमर्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ।।
न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन विना सुखं ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यम् तेन सामान्यनित्यता ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन में कही गई है। कुमारिल भट्ट के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पुष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित रहे हैं।

श्लोकवार्तिक वनवाद श्लोक ७५-८० में तो वे स्वयं अनेकान्त की प्रमाणता सिद्ध करते हैं—

वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धा ऽप्रमाणता ।
ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ।।
इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।

इसी अंश की टीका में पार्थसारथी मिश्र ने भी स्पष्टत: अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग किया है यथा—

ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवाद।

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत् पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभयरूप से सदसत् रूप माना गया है यथा—

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेण सत् पटरूपेणाऽसन्। - अभावप्रकरण टीका

यहाँ तो हमने कुछ ही सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं यदि भारतीय दर्शनों के मूलग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाये तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होगें जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकान्त एक अनुभूत्यात्मक सत्य है उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतीकरण की शैली का होता है।

वेदान्तदर्शन और अनेकान्तवाद

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुत: एक दर्शन का नहीं, अपितु दर्शन समूह का वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। नैकस्मिन्न संभवात् (**ब्रह्मसूत्र** २/२/३३) की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की समीक्षा की है। मैं यहाँ उनकी समीक्षा कितनी उचित है या अनुचित है इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर को सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृति- अप्रवृति रूप दो परस्पर विरोधी गुण स्वीकार है। **ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य** २/२/४ में वे स्वयं ही लिखते हैं—

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्वशक्तिमत्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृती न विरूध्यते।

पुन: माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्; क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण

विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहाँ अनेकान्तवाद जिस बात को विधि मुख से कह रहा है शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है वह माया की स्वीकृति के बिना जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न या सर्वथा भिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यहीं तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाईयों से बचने हेतु माया को जब अनिर्वचनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी **ब्रह्मसूत्र** पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र के **'तत्तु समन्वयात्'** (१/१/४) सूत्र की टीका में लिखते हैं—

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। अतोभिन्नाभिन्न रूपं ब्रह्मेतिस्थितम्

संग्रह श्लोक—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ० १६-१७)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध ही, किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण प्रमेय तत्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी **भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगतं** (२/१/२२ टीका पृ. १६४) कहकर उन्होंने अनेकान्तदृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यतिप्रवर विज्ञानभिक्षु ने **ब्रह्मसूत्र** पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है। उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने

मत की पुष्टि में **कूर्मपुराण, नारदपुराण, स्कन्दपुराण** आदि से सन्दर्भ भी प्रस्तुत करते हैं यथा—

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्कम् ।- पृ० १११

चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत्।

असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षयो।। - पृ० ६३

ये सभी सन्दर्भ अनेकान्त के सम्पोषक हैं यह तो स्वतः सिद्ध है।

इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी **ब्रह्मसूत्र** की **वेदान्त पारिजात** सौरभ नामक टीका में तत्तुसमन्वयात् (१/१/४) की टीका करते हुए पृ. २ पर लिखा है—

सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य (पृ. ११५) में लिखते हैं —

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधिच ।
अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेवच ।।
विरुद्ध सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरं ।

अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ रामानुजाचार्य जो बात ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैनदर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में भी अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्तवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिन्तन और अनेकान्त

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन हैं, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकान्त के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिकधारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषद्-काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएँ अस्तित्व में आ गईं थीं, अतः उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोणों का निराकरण कर इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं- संजय वेलट्ठीपुत्त, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर ।

संजय वेलट्ठीपुत्त और अनेकान्त

संजय वेलट्ठीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकान्तवाद सम्पोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकान्तवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रन्थों में इस रूप में पाया जाता है—

(१) है? नहीं कहा जा सकता।

(२) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

(३) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।

(४) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि वे किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्तवाद का निरसन अनेकान्तवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकान्तवाद के प्रथम चरण का सम्पोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान किया कि संजय वेलट्ठीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनों ने स्याद्वाद्व (अनेकान्तवाद) का विकास किया। किन्तु मेरी दृष्टि में उनका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुत: उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है। इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकान्त स्थापना नहीं है। संजय वेलट्ठीपुत्त की यह चतुर्भंगी किसी रूप में बुद्ध के एकांतवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन और अनेकान्तवाद

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अत: उन्होंने विभज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे। **सूत्रकृतांग** (१/१/४/२२) में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें (**विभज्जवायं वागरेज्जा**) अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दें। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। **अंगुत्तरनिकाय** में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियाँ वर्णित हैं- (१) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना (२) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना (३) प्रतिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (४) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त का आश्रय लेना पड़े वहाँ मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्त्व या सत्ता के सम्बन्ध में

शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया- क्या आत्मा और शरीर अभिन्न हैं? वे कहते हैं मैं ऐसा नहीं कहता, फिर जब यह पूछा गया- क्या आत्मा और शरीर भिन्नाभिन्न है, उन्होंने कहा मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। पुन: जब यह पूछा गया है कि आत्मा और शरीर अभिन्न है तो उन्होंने कहा कि मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकान्त शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और त्यागी मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हो सकते यदि दोनों सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो वे आराधक हो सकते हैं (**मज्झिमनिकाय** १९)। इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवन् सोना अच्छा हैं या जागना? तो उन्होंने कहा कुछ का सोना अच्छा है और कुछ का जागना, पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकान्तदृष्टि का समर्थन देखा जाता है।

स्याद्वाद और शून्यवाद

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अन्तर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपनाकर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्राय: एकान्तवाद के निरसन या निषेधपरक रही, परिणामत: उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही अत: उनके दर्शन का विकास अनेकान्त या स्याद्वाद में हुआ।

इसी बात को प्रकारान्तर से माध्यमिक कारिका (२/३) में इस प्रकार भी कहा गया है—

न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदु ।।

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों नहीं है।

यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है—

यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।

अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है, वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।

उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अन्तर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता है।

एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है।

शून्यवाद और स्याद्वाद् में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है, वहाँ अनेकान्तवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिसे परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य कहता है उसे जैन दर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार :

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनैकान्तिक दृष्टि रही हुई है। चाहे उन्होंने अनेकान्त के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुत: अनेकान्त एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति (Methodology) है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो 'बहुआयामी परमतत्त्व' की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मानों और यह भी मानलें कि उस निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूति भी सम्भव है, किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं है। निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बन कर रह जाती है। अनन्तधर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के लेना सम्भव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का दार्शनिक प्रयत्न अनेकान्त की पद्धति को अपनाये बिना कैसे सम्भव है। यही कारण है कि चाहे कोई भी दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकान्त की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन रहा है।

सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अनेकान्त को स्वीकृति देते हैं इस तथ्य

का निर्देश उपाध्याय यशोविजय जी ने **अध्यात्मोपनिषद्** (१/४५-४९) में किया है, हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में करेंगे—

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिक वदन् ।
योगोवैशेषिको वापि नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।
विज्ञानस्यमैकाकारं नानाकारं करंबितम् ।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।
जातिवाक्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम् ।
भाट्टो वा मुरारिर्वा नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।
अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकांतं प्रतिक्षिपेत्।।
ब्रुवाणो भिन्न-भिन्नार्थन् नयभेद व्यपेक्षया ।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकं ।।

जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन

वस्तुस्वरूप और पर्याय

पर्याय की अवधारणा जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है। जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। किन्तु अनेकान्त का आधार पर्याय की अवधारणा है। सामान्यतया पर्याय शब्द परि+आय: से निष्पन्न है। मेरी दृष्टि जो परिवर्तन को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। **राजवार्तिक** (१/३३/१/९५/६) 'परि समन्तादाय: पर्याय, के अनुसार जो सर्व ओर से नवीनता को प्राप्त होती है वही पर्याय है। यह होना (becoming) है। वह सत्ता की परिवर्तनशीलता की या सत् के बहु आयामी (Multi dimentional) होने की सूचक है। वह यह बताती है कि अस्तित्व प्रति समय परिणमन या परिवर्तन को प्राप्त होता है इसलिए यह भी कहा गया है कि जो स्वभाव या विभाव रूप परिणमन करती है, वही पर्याय है। जैन दर्शन में अस्तित्व या सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद–व्यय का जो सतत् प्रवाह है वही पर्याय है और जो इन परिवर्तनों के स्वस्वभाव से च्युत नहीं होता है, वही द्रव्य है। अन्य शब्दों में कहें तो अस्तित्व में जो अर्थक्रियाकारित्व है, गत्यात्मकता है, परिणामीपन या परिवर्तनशीलता है, वही पर्याय है। पर्याय अस्तित्व की क्रियाशीलता की सूचक है। वह परिवर्तनों के सातत्य की अवस्था है। अस्तित्व या द्रव्य दिक् और काल में जिन भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है, जैन दर्शन के अनुसार यही अवस्थाएं पर्याय हैं अथवा सत्ता का परिवर्तनशील पक्ष पर्याय है। बुद्ध के इस कथन का कि 'क्रिया है, कर्ता नहीं' का आशय यह नहीं है कि वे किसी क्रियाशीलतत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुत: बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्ध दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे भी न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य है जबकि जैन दार्शनिकों ने उसे

नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक- दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। सत् को अव्यय या अपरिवर्तनशील मानने का एकान्त पक्ष और सत् को परिवर्तनशील या क्षणिक मानने का एकान्त पक्ष जैन और बौद्ध विचारकों को स्वीकार्य नहीं रहा है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि महावीर ने जहाँ अस्तित्त्व के उत्पाद-व्यय पक्ष अर्थात् पर्याय पक्ष के साथ-साथ ध्रौव्यपक्ष के रूप में द्रव्य को भी स्वीकृति प्रदान की है। वहाँ भगवान् बुद्ध ने अस्तित्त्व के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल दिया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दर्शन की अस्तित्त्व की व्याख्या जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा के अतिनिकट है। बौद्धों ने पर्याय अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति को ही अस्तित्त्व मान लिया। बौद्ध दर्शन ने परिवर्तनशीलता और अस्तित्त्व में तादात्म्य माना और कहा कि परिवर्तनशीलता ही अस्तित्व है (Becoming is real)। जैन दर्शन ने भी द्रव्य (Being) और पर्याय (Becoming) अर्थात् 'अस्तित्त्व' और 'होने' में तादात्म्य तो माना किन्तु तादात्म्य के साथ साथ दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया अर्थात् उनमें भेदाभेद माना।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्ववादी परस्परा के अनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल 'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ' या इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का यह उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और यही उसकी पर्याय की अवधारणा का आधार भी है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (**तत्त्वार्थ**,५/२१), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य

गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है जिसमें उत्पत्ति और विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक क्षणिक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकता। जैन दर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में हम द्रव्य, गुण और पर्याय के सह सम्बन्ध के बारे में चर्चा करेंगे।

द्रव्य और पर्याय का सहसम्बन्ध

हम यह पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि जैन परस्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर द्रव्य ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर अस्तिकाय और द्रव्य इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय है वे निश्चय ही द्रव्य हैं। इन दोनों शब्दों में भी द्रव्य शब्द मुख्त: अन्य परस्पराओं के प्रभाव से जैन दर्शन में आया है उसका अपना मूल शब्द तो अस्तिकाय ही है । इसमें 'अस्ति' शब्द सत्ता के शाश्वत पक्ष का और काय शब्द अशाश्वत पक्ष का सूचक माना जा सकता है। वैसे सत्ता को काय शब्द से सूचित करने की परम्परा श्रमण धारा के प्रक्रुधकात्यायन आदि अन्य दार्शनिकों में भी रही है। **भगवतीसूत्र** में द्रव्य पक्ष की शाश्वतता और पर्याय पक्ष की आशाश्वतता का चित्रण उपलब्ध होता है उसमें कहा गया है कि 'दव्वट्ठाए सिय सासया पज्जवट्ठाए सिय असासया' अर्थात् अस्तित्त्व को द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत (अनित्य) कहा गया है। इस तथ्य की अधिक स्पष्टता से चित्रित करते हुए **सन्मतितर्क** में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं-

उपज्जंति चयंति आ भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्न अविणट्ठं ।।

अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अस्तित्त्व या वस्तु उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है।

उमास्वाति के **तत्त्वार्थसूत्र** सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में सत् द्रव्यलक्षणं (४/२१) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्त्व है। जो अस्तित्त्वान् है, वही द्रव्य है। किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होता है कि द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो 'द्रूयते इति द्रव्य' : के आधार पर उत्पाद व्यय रूप अस्तित्त्व को हीं सिद्ध करता है। इसी आधार पर यह कहा गया है जो त्रिकाल में परिणमन करते हुए भी अपने स्व स्वभाव का पूर्णतः परित्याग न करे उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार **तत्त्वार्थसूत्र** (५/२९) में उमास्वाति ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी बताया। यदि सत् और द्रव्य एक ही है तो फिर द्रव्य को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है। साथ ही उमास्वाति ने **तत्त्वार्थसूत्र** (५/३८) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **पंचास्तिकायसार** और **प्रवचनसार** में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य को परिभाषित किया है। **पंचास्तिकायसार** (१०) में वे कहते हैं कि द्रव्य सत् लक्षण वाला है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए **प्रवचनसार** (१५-९६) में वे कहते हैं जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा गुण-पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वाति के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणपर्यायवत् द्रव्य कहकर जैन दर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि **तत्त्वार्थसूत्र** में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिकसूत्र के 'द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता' (१/२/८) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैन दर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। इसी तथ्य को मीमांसा दर्शन में इस रूप में स्वीकार किया गया है-

वर्द्धमानकभंगेच, रुचकः क्रियते यदा ।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ।।२१।।
हेमार्थिनस्तुमाध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावेसन्मति त्रयम् ।।२२।।
न नाशेन विनाशोको, नोत्पादेन विनासुखम् ।
स्थित्याविना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ।।२३ ।।

मीमांसाश्लोक वार्तिक पृ-६१

अर्थात् वर्द्धमानक (बाजूबंद) को तोड़कर रुचकहार बनाने में वर्द्धमानक को चाहने वाले को शोक, रुचक चाहने वाले को हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को न हर्ष और न शोक होता है। उसका तो माध्यस्थ भाव रहता है । इससे सिद्ध होता है कि वस्तु या सत्ता उत्पाद भंग और स्थिति रूप होती है क्योंकि नाश के अभाव में शोक, उत्पाद के अभाव में सुख (हर्ष) और स्थिति के अभाव में माध्यस्थ भाव नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है मीमांसा दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। परिणमन यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है किन्तु इस प्रक्रिया में द्रव्य अपने मूल स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। स्व स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने से ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है। किन्तु प्रति क्षण उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जाता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड पर्याय का विनाश होता है। जब तक पिण्ड नष्ट नहीं होता तक तक घट उत्पन्न नहीं होता किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। अतः यह स्व-लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है। स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वे पर्याय कहलाती हैं। ये परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीव द्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु इसके चेतना लक्षण का परित्याग के बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक,युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता है, वे ही गुण स्वलक्षण कहे जाते हैं। यह स्वलक्षण ही द्रव्य स्वरूप है। जिन गुणों का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयी हैं- १ स्वभाव पर्याय और २. विभाव पर्याय । जो पर्याय या अवस्थायें स्व-लक्षण के निमित्त से होती हैं वे स्वभाव पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं वे विभाव पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन

(प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थायें आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्व–लक्षण उपयोग से फलित होती हैं, जबकि क्रोध आदि कषाय भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होती हैं, अत: वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य गुण और पर्यायों से अभिन्न है, वे तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मतितर्कप्रकरण** में स्पष्ट रूप से कहा है, द्रव्य से रहित गुण और पर्याय की सत्ता नहीं है । साथ ही गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की भी सत्ता नहीं है।

दव्वं पज्जव विउअं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि ।
उप्पादट्ठिइ भंगा हदि दविय लक्खणं एयं ।। – **सन्मतितर्क** १२

अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय में तदात्म्य है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अस्तित्त्व की अपेक्षा से उनमें तादात्म्य है किन्तु विचार की अपेक्षा से वे पृथक्–पृथक् हैं। हम उन्हें अलग–अलग कर नहीं सकते किन्तु उन पर अलग–अलग विचार सभव है। बालपना, युवावस्था या बुढ़ापा व्यक्ति से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते हैं– फिर भी ये तीनों अवस्थाएं एक दूसरे से भिन्न हैं। यही स्थिति द्रव्य, गुण और पर्याय की है।

गुण और पर्याय का सहसम्बन्ध :-

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुत: गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व–लक्षण होते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में उमास्वाति ने द्रव्याश्रया निर्गुणागुणा: (५/४०) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म–विरोधी सी लगती किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो फिर अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा। आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व–लक्षण है जबकि पर्याय द्रव्य विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है।जिस द्रव्य का जो गुण है वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी अवस्थाओं का सूचक है। फिर भी गुण की ये अवस्थायें अर्थात् गुण-पर्याय बदलती हैं। द्रव्य के समान ही गुणों की पर्याय होती हैं जो गुण की भी परिवर्तनशीलता को सूचित करती हैं। जीव में चेतना की अवस्थाएँ बदलती हैं फिर भी चेतना गुण बना रहता है।

वे विशेषताएं या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में धर्म –द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है। अधर्म–द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है । जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का और उपयोग जीव का लक्षण है। अतः गुण वे हैं जिसके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं। **उत्तराध्ययन** (२८/११–१२) में जीव और पुदगल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग ये जीव के लक्षण बातये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अन्धकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग–अलग माने गये हैं लेकिन अस्तित्त्व की दृष्टि से वे पृथक्–पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और कुछ गुण विशिष्ट होते है, जो कुछ ही द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे–अस्तित्त्व लक्षण सामान्य है जो सभी द्रव्य में पाया जाता है किन्तु चेतना आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो केवल जीव द्रव्य में पाये जाते हैं, अजीव द्रव्य में उनका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ गुण सामान्य और कुछ विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जबकि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है । विशेष गुणों की एक अन्य विशेषता यह कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं। जीवों की चेतना पर्याय बदलती रहती है, फिर भी उनकी परिवर्तनशील चेतना पर्यायों में चेतना गुण और जीव द्रव्य बना रहता है।

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता । द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है न द्रव्य से रहित गुण की । अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्त्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्त्व नहीं है । **तत्त्वार्थ सूत्र** (५/४०) में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्व गुण

को छोड़कर जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है वही गुण है। द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जैन परस्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम ग्रंथों में द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव माना गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** (२८/६) में द्रव्य को गुण का आश्रय स्थान माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्रकार के अनुसार गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय स्थल है किन्तु यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न-भिन्न सत्ता ही नहीं है तो उनमें आश्रय-आश्रयी भाव किस प्रकार होगा? वस्तुतः द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया यह विवेचन मूलतः वैशेषिक परम्परा के समीप लगता है। जैनों के अनुसार सिद्धान्ततः तो आश्रय-आश्रयी भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है जो एक-दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पूज्यपाद आदि कुछ आचार्यों ने 'गुणानां समूहो दव्वो' अथवा 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति' कहकर कर द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग-अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अन्य कोई सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह है कि वे एक दूसरे से पृथक् होकर अपना अस्तित्व रखते हैं। यह दृष्टिकोण बौद्ध अवधारणा के समीप है। यह संघातवाद का ही अपररूप है जबकि जैन परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः द्रव्य के साथ गुण और पर्याय के सम्बन्ध को लेकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है, वही अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न हैं और उस दृष्टि से उनमें आश्रय-आश्रयी भाव भी देखा जाता है किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् (विविक्त) सत्ताएँ नहीं हैं अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है। डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य **जैन-दर्शन** (पृ० १४४) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिए, वह द्रव्य से अभिन्न है। किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। एक ही पुद्गल परमाणु में युगपत् रूप से रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर रूप, रस, गन्ध आदि पृथक्-पृथक् गुण हैं। अतः वैचारिक स्तर पर केवल एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है अपितु उस स्तर पर यह द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है किन्तु उसमें यह पर्याय परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होने वाले परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य के ही परिवर्तन हैं।

पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर्यायों और गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच जो एक अविच्छिन्नता का नियामक तत्त्व है, वही द्रव्य है। उदाहरण के रूप में एक पुद्गल परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं और उस गुण परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय भी बदलती रहती है, किन्तु इन परिवर्तित होने वाले गुणों और पर्यायों के बीच भी एक तत्त्व है जो इन परिवर्तनों के बीच भी बना रहता है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविक गुण कृत और वैभाविक गुण कृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है। इसलिए द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ–साथ उसके गुणों में भी उत्पाद, व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है उससे पृथक् होने पर जीव जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रति क्षण बदलती रहती हैं। अतः गुणों में भी उत्पाद–व्यय होता रहता है। पुनः वस्तु का स्व–लक्षण कभी बदलता नहीं है अतः गुण में ध्रौव्यत्व पक्ष भी है। अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण युक्त है। गुण में जो उत्पाद–व्यय या अवस्थान्तरण होता है, उसे हम गुण की पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार कोई भी द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार कोई भी गुण पर्याय से रहित नहीं होता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य एवं गुण में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है इन्हें ही द्रव्य की पर्याय कहते हैं द्रव्य–पर्याय स्ववर्गीय अनेक द्रव्याश्रित होती है, जबकि गुण पर्यायें एक द्रव्याश्रित होती हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि द्रव्य गुण संघात (समुदाय) रूप है तो फिर द्रव्य और गुण की अलग–अलग पर्याय मानने की क्या आवश्यकता है । ज्ञातव्य है कि द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु रूप भी हैं अतः द्रव्य की स्कन्ध, देश, प्रदेश या परमाणु रूप पर्याय अर्थात् उसके आकार आदि द्रव्य पर्याय हैं। द्रव्य में अनन्तानन्त गुण होते हैं और उन गुणों में प्रति समय होने वाली षट् गुण हानि वृद्धि गुण पर्याय है। उदाहरण के रूप में एक मिट्टी का घड़ा है, वह मृतिका रूप पुद्गल द्रव्यों की आकृति है यह आकृति द्रव्य पर्याय है किन्तु यह काला या लाल है–यह काला या लाल होना गुण पर्याय है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रति क्षण जलने वाला तेल बदलता रहता है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत् रूप से परिवर्तन या परिणमन को प्राप्त होता रहता है। फिर भी द्रव्यत्व यथावत् रहता है। द्रव्य में होनेवाला यह परिवर्तन या परिणमन

ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है,बालक से किशोर और किशोर से युवक,युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु काल तक प्रत्येक व्यक्ति के देह की शारीरिक संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रति क्षण होनेवाले इन परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि पर्याय जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय की यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की यह यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है। बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होता रहता है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होनेवाला परिवर्तन ही पर्याय है । पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था विशेष है। दार्शनिक जगत् में पर्याय का जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है, उसमें आगम में किंचित् भिन्न अर्थ में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। दार्शनिक ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम में पर्याय का निरूपण द्रव्य के क्रमभावी परिणमन के रूप में नहीं हुआ है। आगम में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं में प्राप्त होता है उन्हें उस पदार्थ का पर्याय कहा गया है। जैसे जीव की पर्याय है-नारक,देव, मनुष्य, तिर्यंच, सिद्ध आदि । **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य और उनके विभिन्न प्रकारों की पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन है। इसमें उन द्रव्यों को सामान्य अपेक्षा से सम्भावित कितनी पर्यायें होती हैं इसकी भी चर्चा है।

पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्यायों का उल्लेख **अनुयोगद्वारसूत्र** में इस प्रकार हुआ है-एक गुण काला, द्विगुण काला यावत् अनन्त गुण काला। इस प्रकार काले गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। इसी प्रकार नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्याय भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध,रस,स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्त गुण तक की पर्यायें होती हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है। एक पर्याय का दूसरे पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक-दूसरे से पृथक् होती हैं। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार संस्थान अर्थात् आकृति

की दृष्टि से भी पर्याय–भेद होता है। ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में हम जिसे पर्याय कहते हैं उसे महर्षि पतंजलि ने **महाभाष्य** के पशपाशाह्निक में आकृति कहा है। वे लिखते हैं 'द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या' । जिस पर्याय का संयोग (उत्पाद) होता है उसका विनाश भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता। फिर भी द्रव्य की वे पर्यायें स्थिर भी नहीं रहती हैं वे प्रति समय परिवर्तित होती रहती हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्याय परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया है। द्रव्य में प्रति क्षण पूर्व पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसमें या जिसके सहारे घटित होती है या जो परिवर्तित होता है, वही द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय में भी कथंचित् तादात्म्य इस अर्थ में है पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य अपना अस्तित्त्व रख सकता है और न द्रव्य से पृथक होकर पर्याय का ही कोई अस्तित्त्व होता है। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग–अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वे तत्त्वतः अभिन्न हैं किन्तु द्रव्य के बने रहने पर भी पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम घटित होता रहता है। यदि पर्याय उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, तो उसे द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी मानना होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था व्यक्ति से पृथक कहीं नहीं देखी जाती । वे व्यक्ति में ही घटित होती हैं और व्यक्ति से अभिन्न होती हैं किन्तु एक ही व्यक्ति में बाल्यावस्था का विनाश और युवावस्था की प्राप्ति देखी जाती है। अतः अपने विनाश और उत्पत्ति की दृष्टि से वे पर्यायें व्यक्ति से पृथक् ही कही जा सकती हैं। वैचारिक पर प्रत्येक पर्याय द्रव्य से भिन्नता रखती है । संक्षेप में तात्विक स्तर पर या सत्ता की दृष्टि से हम द्रव्य और पर्याय को अलग–अलग नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न हैं । किन्तु वैचारिक स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जबकि द्रव्य बना रहता है, अतः वे द्रव्य से भिन्न भी होती हैं और अभिन्न भी । जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता उनके अनेकांतिक दृष्टिकोण की परिचायक है।

पर्याय के प्रकार

(क) जीव पर्याय और अजीव पर्याय

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए द्रव्यानुयोग

(पृ० ३८) में उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी म०सा० कमल लिखते हैं कि **प्रज्ञापना** (सूत्र) में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं– १. जीव पर्याय और २. अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। जीव पर्याय किस प्रकार अनन्त होती है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्विन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, तिर्यंञ्चयोनिक और मनुष्य ये सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव पर्यायें अनन्त हैं। इसी प्रकार अजीव पुद्गल आदि रूप है, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर में इनके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश (Degrees) होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्याये होती हैं। जिनका विस्तृत विवेचन **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में किया गया है।

(ख) अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय

पुनः पर्याय दो प्रकार की होती है– १. अर्थपर्याय और २. व्यंजनपर्याय। एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण में परिवर्तित होने वाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थ पर्याय कहते हैं तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है उसे व्यंजन कहते हैं। अर्थ पर्याय सूक्ष्म एवं व्यंजन पर्याय स्थूल होती है। ज्ञातव्य है कि **धवला** (४/१/५.४/३३७/६) में द्रव्य पर्याय को ही व्यंज्जन पर्याय कहा गया है और गुण पर्याय को ही अर्थ पर्याय भी कहा गया है। द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यञ्जन पर्याय ही द्रव्य पर्याय और अर्थ पर्याय ही गुण पर्याय है तो फिर इन्हें पृथक् –पृथक् क्यों बताया गया है, इस उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यञ्जन पर्याय चिरकायिक होती है, जैसे जीव की चेतन पर्याय सदैव बनी रहती है चाहे चेतन अवस्थाएं बदलती रहें, इसके विपरीत अर्थ पर्याय गुणों और उनके अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती है। व्यञ्जन पर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना पर्यायें जो सभी ज़ीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं। वे द्रव्य की सहभावी पर्यायें हैं और अर्थ पर्याय विशेष है जैसे किसी व्यक्ति विशेष की काल विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएं, अतः अर्थ पर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल क्रम में घटित होती रहती हैं अतः कालकृत भेद के आधार पर उन्हें द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय से पृथक् कहा गया है।

(ग) ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं वे तिर्यक् पर्याय कही जाती हैं। जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रति क्षण होने वाले पर्याय परिणमन को ऊर्ध्व पर्याय कहा जाता है। तिर्यक् अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व पर्याय भेद में अभेद ग्राही है। यद्यपि पर्याय दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में तिर्यक् पर्याय द्रव्य सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्व पर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कही जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्याय होती हैं। जैसे कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषाय रूप परिणमन हैं वे विभाव पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता–द्रष्टा भाव स्वभाव पर्याय है। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव पर्याय नहीं है। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश का विभाव पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्ड द्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ) सजातीय और विजातीय द्रव्य पर्याय

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह सजातीय द्रव्य पर्याय है जैसे समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय है।

(च) कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय

स्वभाव पर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। पर्यायों में परस्पर कारण कार्य भाव होता है। जो स्वभाव पर्याय कारण रूप होती है कारण शुद्ध पर्याय है और जो स्वभाव पर्याय कार्य रूप होती है वे कार्य शुद्ध पर्याय हैं, किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप से समझना चाहिए क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है। इसी क्रम में विभाव पर्यायों को भी कार्य अशुद्ध पर्याय या कारण अशुद्ध पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी पर्याय कही जाती हैं जैसे पुद्‌गल द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है, वे क्रम भावी पर्याय हैं। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं वे सामान्य पर्याय कही जा सकती हैं जैसे अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों (Degrees) की अपेक्षा से भेद होता है अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश काला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं जबकि गुणात्मक दृष्टि से काला, लाल, श्वेत आदि अथवा खट्टा–मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक, देवता आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वत: अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिभासिक मानते हैं। उनका कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की परम सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, वह सत् नहीं है, मात्र प्रतिभास है। उनके अनुसार परम सत्ता (ब्रह्म) निर्गुण है। इसी प्रकार विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुत: उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है। अत: वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती हैं तो उनसे हमें जो संवेदना होती वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग अंधता होती तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत–श्याम रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता। लालादि रंगों के अस्तित्त्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति हैं वास्तविक नहीं अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण

और पर्याय भी मात्र प्रतिभास हैं । चित्त–विकल्प वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु जैन दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Realist) के समान द्रव्य के साथ –साथ गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं। जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय (Idea) या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश–कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का **चैत्तसिक** स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके चैत्तसिक स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं,जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अत: अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती है। जैनों के अनुसार अनुभूति का प्रत्येक विषय अपनी वास्तविक सत्ता रखता है। इससे न केवल द्रव्य अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक (Real) सिद्ध होते हैं। सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन आचार्यों ने उसे अस्तिकाय कहा है। अत: उत्पाद–व्यय धर्मा होकर भी पर्याय प्रतिभास न होकर वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं, यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेने पर कि पर्यायों के घटित होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैन दर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों के त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, तो इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की सम्भवना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय परिणमन होना है वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध में व्यर्थ के संकल्प-विकल्प से मुक्त रह कर समभाव में रह सकता है दूसरे उसमें कर्तृत्त्व का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है। किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति निराशावादी और अकर्मण्य बन जाता है। अपने भविष्य को संवारने का विश्वास भी व्यक्ति के पास नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है अत: इसमें नैतिक उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है तो

उसे किसी भी अच्छे–बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त के आधार पर पुरुषार्थ की सम्भावना से इन्कार नहीं करते हैं। किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ भी नियत है और व्यक्ति संकल्प स्वातन्त्र्य के आधार पर अन्यथा कुछ करने में समर्थ नहीं हैं तो उसे पुरुषार्थ कहना भी उचित नहीं है और यदि पुरुषार्थ नियत है तो फिर वह नियति से भिन्न नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा में व्यक्ति नियति का दास बनकर रह जाता है। चाहे पंचकारणसमवाय के आधार पर कार्य में पुरुषार्थ आदि अन्य कारण घटकों की सत्ता मान भी ली जाये तो भी वे नियत ही होगें अत: क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद से भिन्न नहीं होगी। नियतिवाद व्यक्ति को संकल्प-विकल्प से और कर्तृत्व के अहंकार से दूर रखकर चित्त को समाधि तो देता है, किन्तु उसमें नैतिक उत्तरदायित्व और साधनात्मक पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा वाले पक्ष की ओर से यह कहा जाये कि जो असर्वज्ञ है वह अपने भावी को नहीं जानता है अत:उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। किन्तु इस कथन को एक सुझाव मात्र कहा जाता है, इसके पीछे सैद्धान्तिक बल नहीं है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में मेरी समस्त भावी पर्यायें नियत हैं तो फिर पुरुषार्थ करने का क्या अर्थ रह जाता है। और जैसा कि पूर्व में कहा गया है यदि पुरुषार्थ की पर्यायें भी नियत हैं तो फिर उसके लिए प्रेरणा का क्या अर्थ है?

क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा के पक्ष में सर्वज्ञता की अवधारणा के अतिरिक्त एक अन्य तर्क कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की कठोर व्याख्या के आधार पर भी दिया जाता है। यदि कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त को अपने कठोर अर्थ में लिया जाता है तो फिर इस व्यवस्था के अधीन भी सभी पर्यायें नियत ही सिद्ध होगीं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता का जो अर्थ परवर्ती जैन आचार्यों ने लिया है, उसका ऐसा अर्थ प्राचीन काल में नहीं था। उस समय सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ था या अधिक से अधिक तात्कालिक सभी दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान था। **भगवतीसूत्र** की यह अवधारणा कि "केवली सिय जाणई सिय ण जाणई" से भी सर्वज्ञता का वह अर्थ कि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों त्रैकालिक पर्यायों को जानता है खण्डित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट कहा है कि निश्चय नय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ होता है, सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानता है, यह मात्र व्यवहार कथन है और व्यवहार अभूतार्थ है। इस सम्बन्ध में पं० सुखलालजी, डॉ० नगीन जे० शाह और मैंने विस्तार से चर्चा की है, यहाँ उस चर्चा को दोहराना आवश्यक नहीं है। पुन: जैन कर्म सिद्धान्त में कर्मविपाक में उदीरणा, संक्रमण, अपवर्तन और उदवर्तन आदि की

जो अवधारणाएँ हैं वे कर्म व्यवस्था में पुरुषार्थ की सम्भावनाएँ स्पष्ट कर देती हैं। पुन: यदि महावीर को क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा मान्य होती तो फिर गोशालक के नियतिवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की स्थापना वे क्यों करते? जहाँ तक मेरी जानकारी है न तो **भगवती**, **प्रज्ञापना** आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और न **षट्खण्डागम**, **कसायपाहुड** आदि दिगम्बर आगमों में तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कहीं क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट अवधारणा है। फिर भी क्रमबद्ध पर्याय के सम्बन्ध में डॉ० हुकमचन्द्र जी भारिल्ल का जो ग्रन्थ है वह दर्शन जगत् में इस विषय पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में मत वैभिन्य अपनी जगह है किन्तु पर्यायों की क्रमबद्धता के समर्थन में सर्वज्ञता को आधार मान कर दी गई उनकी युक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में गहन चर्चा में न जाकर अपने वक्तव्य को यही विराम देना चाहूंगा और विद्वानों से अपेक्षा करूंगा कि पर्याय के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अपना चिन्तन प्रस्तुत करें।

प्रवचनसारोद्धार: एक अध्ययन

प्रवचनसारोद्धार जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जैन धर्म एवं दर्शन का सारभूत, किन्तु आकर ग्रन्थ है। इसका विषय वैविध्य एवं कर्ता की व्यापक संग्राहक दृष्टि, इसे जैन विद्या के लघु विश्व-कोष की श्रेणी में लाकर रख देती है। वस्तुत: यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें जैन विद्या के विविध आयामों को समाहित करने का लेखक ने अनुपम प्रयास किया। यद्यपि इसके पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि (विक्रम संवत् की आठवीं शती) ने अपने ग्रन्थों **अष्टक**, **षोड्शक**, **विंशिका**, **पंचासक** आदि में जैन धर्म, दर्शन और साधना के विविध पक्षों को समाहित करने प्रयत्न किया है, फिर भी विषय वैविध्य की अपेक्षा से ये ग्रन्थ भी इतने व्यापक नहीं हैं, जितना **प्रवचनसारोद्धार** है। इसमें २७६ द्वार हैं और प्रत्येक द्वार एक-एक विषय का विवेचन प्रस्तुत करता है, इस प्रकार प्रस्तुत कृति में जैन विद्या से सम्बन्धित २७६ विषयों का विवेचन है। इससे इसका बहुआयामी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत कृति १५७७ प्राकृत गाथाओं में निषद्ध है। मात्र गाथा (श्लोक) क्रमांक ७७१ संस्कृत में है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। छन्दों की अपेक्षा से इसमें आर्या छन्द की ही प्रमुखता है, यद्यपि अन्य छन्द भी उपलब्ध होते हैं। इस कृति के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में ई० पू० छठी शती से लेकर ईसा की तेरहवीं शती तक लगभग दो हजार वर्ष की सुदीर्ध अवधि में प्राकृत में ग्रन्थ लेखन की जीवित परम्परा रही है। मात्र यही नहीं, इसके पश्चात् आज तक भी प्राकृत भाषा में ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं जो जैन विद्वानों की प्राकृत के प्रति प्रतिबद्धता के सूचक हैं। प्रस्तुत कृति के लेखक ने इसके अतिरिक्त **अनंतनाहचरियं** नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्राकृत भाषा में रचा है इससे लेखक को प्राकृत भाषा और विषय दोनों पर अधिकार सिद्ध होता है। साथ ही प्रस्तुत कृति में विविध विषयों का संग्रह उसकी बहुश्रुतता का भी परिचय देता है।

प्रवचनसारोद्धार के रचयिता :-

प्रवचनसारोद्धार नामक प्रस्तुत कृति के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि हैं किन्तु ये नेमिचन्द्रसूरि कौन हैं और कब हुए? इस सम्बन्ध में थोड़ी विस्तृत विवेचना अपेक्षित है।

यद्यपि **प्रवचनसारोद्धार** की प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने इसके रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उन्होंने अपना और अपनी गुरु परम्परा का संक्षिप्त किन्तु

स्पष्ट निर्देश किया है। कर्ता प्रशस्ति में वे लिखते हैं "धर्म रूपी पृथ्वी का उद्धार करने में महावराह के समान जिनचन्द्रसूरि के शिष्य आम्रदेवसूरि हुए। उनके शिष्य नेमिचन्द्रसूरि, जो विजयसेन गणधर से कनिष्ठ और यशोदेवसूरि से ज्येष्ठ थे, ने सिद्धान्तरूपी रत्नाकर से रत्नों का चयन करके **प्रवचनसारोद्धार** की रचना की।" इस प्रकार **प्रवचनसारोद्धार** की इस कर्ता प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा में केवल अपने प्रगुरु जिनचन्द्रसूरि और गुरु आम्रदेवसूरि के ही नामों का निर्देश किया है, उनके गच्छ आदि का विस्तृत विवरण नहीं दिया है किन्तु अपने द्वारा ही रचित **अनंतनाहचरियं** की कर्ता प्रशस्ति में अपने गच्छ और गुरु परम्परा का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। फिर भी उपरोक्त दोनों प्रशस्तियों से ग्रन्थकार के सांसारिक जीवन के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

अनंतनाहचरियं से इतना विशेष ज्ञात होता है कि वे श्वेताम्बर परम्परा के बृहद् गच्छ के थे । इस गच्छ इसका प्रारम्भ देवसूरि से बताया गया है। इन देवसूरि के शिष्य आदित्यदेवसूरि हुए। आदित्यदेवसूरि के शिष्य आनन्ददेवसूरि और आनन्ददेवसूरि के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम) हुए। उसमें इन्हें सिद्धान्त के रहस्यों का ज्ञाता भी कहा गया है। इन्होंने **लघुवीरचरित**, **उत्तराध्ययनवृत्ति**, **आख्यानकमणिकोष** एवं **रत्नचूड़चरित** आदि ग्रन्थों की रचना की थी। प्रशस्ति में इन नेमिचन्द्रसूरि का जिस प्रकार से गुणगान किया गया है उससे यही सिद्ध होता है कि **प्रवचनसारोद्धार** के कर्ता ये नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम) नहीं हैं। क्योंकि ग्रन्थकार प्रशस्ति में स्वयं अपनी प्रशंसा इस रूप में नहीं कर सकता है। इसी प्रशस्ति में आगे आनन्ददेवसूरि के दूसरे दो शिष्यों प्रद्योतनसूरि और जिनचन्द्रसूरि का उल्लेख भी हुआ है और इन जिनचन्द्रसूरि के आम्रदेवसूरि और श्रीचन्दसूरि ऐसे दो शिष्य हुए। ये आम्रदेवसूरि **आख्यानकमणिकोष** की वृत्ति के रचयिता हैं। प्रशस्ति के अनुसार इन्हीं आम्रदेवसूरि के शिष्यों में हरिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि, यशोदेवसूरि और नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) आदि हुए, यही नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) इस **प्रवचनसारोद्धार** के कर्ता हैं।

अपने **अनंतनाहचरियं** की ग्रन्थ प्रशस्ति में इन नेमिचन्द्रसूरि ने अपने को मन्दमति कहा है इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) ही उस **अनंतनाहचरियं** के एवं **प्रवचनसारोद्धार** नामक प्रस्तुत कृति के कर्ता हैं। नेमिचन्द्रसूरि ने उस प्रशस्ति में अपने जिन अन्य गुरु भ्राताओं का निर्देश किया है उनमें यशोदेवसूरि को लक्षण, छन्द, अलंकार, तर्क, साहित्य और सिद्धान्त का ज्ञाता कहा गया है। ज्ञातव्य है कि ये यशोदेवसूरि ही प्रस्तुत कृति के संशोधक भी थे। इस समग्र चर्चा के आधार पर प्रस्तुत कृति के कर्ता नेमीचन्द्रसूरि (द्वितीय) की जो गुरु परम्परा

निर्धारित होती है उसे निम्न सारिणी द्वारा स्पष्टतया समझा जा सकता है—

बृहद्गच्छीय देवसूरि

आदित्यअजितदेवसूरि

आनन्ददेवसूरि (पट्टधर)

नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम) पट्टधर | प्रद्योतनसूरि पट्टधर | जिनचन्द्रसूरि (पट्टधर)

आम्रदेवसूरि (शिष्य) | श्रीचन्द्रसूरि (शिष्य)

हरिभद्रसूरि (मुख्य पट्टधर) | विजयसेनसूरि (शिष्य पट्टधर) | नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) (शिष्य पट्टधर) | यशोदेवसूरि (शिष्य पट्टधर) | गुणाकर (शिष्य) | पार्श्वदेव (शिष्य)

प्रस्तुत कृति का रचनाकाल :-

यद्यपि **प्रवचनसारोद्धार** की प्रशस्ति में उसके रचनाकाल का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु उसके कर्ता नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) का सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १३वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक सुनिश्चित है। उन्होंने अपने **अनंतनाहचरियं** में उसके रचनाकाल का भी स्पष्ट निर्देश किया है। ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने 'रसचंदसूरससेवरिसे विक्कमनिवावकन्ते' ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया है इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना वि०सं० १२१६ में हुई थी। इस कृति में कुमारपाल के राज्यकाल का भी स्पष्ट निर्देश है। इससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि उन्होंने जब वि०सं० १२१६ में **अनंतनाहचरियं** की रचना की थी, तब गुजरात में कुमारपाल शासन कर रहा था। अत: उनका सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से १३वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक सिद्ध होता है। ईसा सन् की दृष्टि से तो उनका सत्ताकाल ईसा की १२वीं शताब्दी सुनिश्चित है।

प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि ने इसकी टीका की रचना विक्रम संवत् १२४८ मतान्तर से विक्रम संवत् १२७८ में की थी। टीका प्रशस्ति

में इस टीका के रचनाकाल का शब्दों के माध्यम से "करिसागर रविसंख्ये" ऐसा निर्देश किया गया है। यहाँ यह मतभेद इसलिए है कि सागर शब्द से कुछ लोग चार और कुछ लोग सात की संख्या का ग्रहण करते हैं। सागर से चार संख्या का ग्रहण करने पर टीका का रचनाकाल वि०सं० १२४८ और सात संख्या ग्रहण करने पर टीका का रचनाकाल वि०सं० १२७८ निर्धारित होता है। इनमें से चाहे कोई भी संवत् निश्चित हो किन्तु इतना निश्चित है कि विक्रम की तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में यह टीका ग्रन्थ निर्मित हो चुका था। मेरी दृष्टि में यदि **प्रवचनसारोद्धार** बृहद्गच्छीय नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) के जीवन के उत्तरार्ध की और **अनंतनाहचरियं** के बाद की रचना है तो वह विक्रम संवत् १२१६ के पश्चात् लगभग वि०सं० १२३० के आसपास कभी लिखा गया होगा क्योंकि **अनंतनाहचरियं** को समाप्त करके इसे लिखने में १०-१५ वर्ष अवश्य लगे होंगे। पुनः मूलग्रन्थ और उसकी टीका के रचनाकाल के मध्य भी कम से कम १५-२० वर्ष का अन्तर तो अवश्य ही मानना होगा। मूलग्रन्थ और उसकी टीका उसी स्थिति में समकालिक हो सकते हैं जबकि टीका या तो स्वोपज्ञ हो या अपने शिष्य या गुरुभ्राता के द्वारा लिखी गई हो।

प्रस्तुत कृति के टीकाकार सिद्धसेनसूरि नेमीचन्द्रसूरि की बृहदगच्छीय देवसूरि की परम्परा से भिन्न चन्द्रगच्छीय अभयदेवसूरि की शिष्य परम्परा के थे।

टीकाकार सिद्धसेनसूरि की गुरू परम्परा इस प्रकार है—

चन्द्रगच्छीय अभयदेवसूरि
|
धनेश्वरसूरि (मुञ्जनृप के समकालीन)
|
अजितसिंहसूरि
|
देवचन्द्रसूरि
|
चन्द्रप्रभ (मुनिपति)
|
भद्रेश्वरसूरि
|
अजितसिंहसूरि
|
देवप्रभसूरि (**प्रमाणप्रकाश** एवं **श्रेयासंचरित्र** के कर्ता)
|
सिद्धसेनसूरि (**प्रवचनसारोद्धार** के टीकाकार)

ज्ञातव्य है इस काल में जब ग्रन्थों की हाथ से प्रतिलिपि तैयार कराकर उन्हें प्रसारित किया जाता था तब उन्हें दूसरे लोगों के पास पहुंचने में पर्याप्त समय लग जाता था। अत: प्रस्तुत कृति से सिद्धसेनसूरि को परिचित होने और पुन: उस पर टीका लिखने में पच्चीस-तीस वर्ष का अन्तराल तो अवश्य ही रहा होगा। अत: यदि टीका विक्रम की तेरहवीं शती के पूर्वार्ध के द्वितीय चरण विक्रम संवत् १२४८ में लिखी गई है तो मूलकृति कम से कम विक्रम की तेरहवीं शती के प्रथम चरण अर्थात् वि०सं० १२२५-३० में लिखी गई होगी। अत: **प्रवचनसारोद्धार** की रचना १२२५ के आस–पास कभी हुई होगी।

प्रवचनसारोद्धार मौलिक रचना है या मात्र संग्रह ग्रन्थ ?

प्रवचनसारोद्धार आचार्य नेमिचन्द्रसूरि की मौलिक कृति है या एक संकलन ग्रन्थ है , इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में ६०० से अधिक गाथाएँ ऐसी हैं जो आगम ग्रन्थों, निर्युक्तियों, भाष्यों, प्रकीर्णकों, प्राचीन कर्म ग्रन्थों एवं **जीवसमास** आदि प्रकरण ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती हैं। **प्रवचनसारोद्धार** की भारतीय प्राच्य तत्व प्रकाशन समिति पिण्डवाड़ा से प्रकाशित प्रति में उसके विद्वान सम्पादक मुनिश्री पद्मसेन विजयजी और मुनिश्री चन्द्रविजय जी ने इसकी लगभग ५०० गाथाऐं जिन -जिन ग्रन्थों से ली गयी हैं, उनके मूल स्रोत का निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक गाथायें ऐसी हैं जो **आवश्यकसूत्र** की **हरिभद्रीयवृत्ति** आदि प्राचीन टीका ग्रन्थों में उद्धृत हैं। पुन: पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मेरे शिष्य डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय की सूचना के अनुसार **प्रवचनसारोद्धार** में सात प्रकीर्णकों की लगभग ७२ गाथाएँ मिलती हैं। कहीं-कहीं पाठ भेद को छोड़कर ये गाथाऐं भी **प्रवचनसारोद्धार** में समान रूप से ही उपलब्ध होती हैं। इसमें देविंदत्थओं की ७, गच्छाचार की१, ज्योतिष्करण्डक की ३, **तित्थोगाली** की ३२, **आराधनापताका** (प्राचीन) की २०, **आराधनापताका** (वीरभद्राचार्य रचित) की ६ एवं **पज्जंताराहणा (पर्यन्त-आराधना)** की ४ गाथायें मिलती हैं । यह भी स्पष्ट है कि ये सभी प्रकीर्णक नेमिचद्रसूरि के **प्रवचनसारोद्धार** से प्राचीन हैं। यह निश्चित है कि इन गाथाओं की रचना ग्रन्थकार ने स्वयं नहीं की है, अपितु इन्हें पूर्व आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों से यथावत् ले लिया है। मात्र इतना ही नहीं अभी भी अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी गाथा सूचियों के साथ **प्रवचनसारोद्धार** की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। **अंगविज्जा** जैसे कुछ प्राचीन ग्रन्थों में और भी समान गाथायें मिलने की संभावना है इससे ऐसा लगता है कि **प्रवचनसारोद्धार** की लगभग आधी गाथायें तो अन्य ग्रन्थों से संकलित हैं। ऐसी स्थिति में नेमिचन्द्रसूरि को ग्रन्थकार या कर्ता मानने पर

अनेक विपत्तियां सामने आती हैं किन्तु जब तक सम्पूर्ण ग्रन्थ की सभी गाथायें संकलित न हों तब तक अवशिष्ट गाथाओं के रचनाकार तो नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय) को ही मानना होगा। प्राचीन काल में ग्रन्थ रचना करते समय आगम अथवा प्राचीन आचार्यों की कृतियों से बिना नाम निर्देश के गाथायें उद्धृत कर लेने की प्रवृत्ति रही है और इस प्रकार की प्रवृत्ति श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के रचनाकारों में पाई जाती है। उदाहरण के रूप में **मूलाचार** में **उत्तराध्ययनसूत्र**, **आवश्यकनिर्युक्ति**, **आतुरप्रत्याख्यान**, **महाप्रत्याख्यान** आदि अनेक ग्रन्थों की २०० से अधिक गाथायें उद्धृत हैं। यही स्थिति **भगवतीआराधना** एवं आचार्य कुन्दकुन्द के **नियमसार** आदि ग्रन्थों की भी है।

नियमसार षट्प्राभृत आदि की अनेक गाथाएं श्वेताम्बर आगमों, प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में समरूप मिलती हैं। श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी **संग्रहणी सूत्र** आदि की एवं प्रकीर्णकों में एक दूसरे की अनेक गाथायें अवतरित की गई हैं। इस प्रकार अपने ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों से गाथायें अवतरित करने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है।

ऐसी स्थिति में जब दूसरे -दूसरे आचार्यों को तत् - तत् ग्रन्थ का रचनाकार मान लिया जाता है तो फिर नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) को प्रस्तुत कृति का कर्ता मान लेने पर कौन सी आपत्ति है? पुनः १६०० गाथाओं के इस ग्रन्थ में यदि ६०० गाथायें अन्यकृतक हैं भी तो शेष १००० गाथाओं के रचनाकार तो नेमीचन्द्रसूरि (द्वितीय) हैं ही। **प्रवचनसारोद्धार** की कौन सी गाथा किस ग्रन्थ में किस स्थान पर मिलती है अथवा अन्य ग्रन्थों की कौन सी गाथाएँ **प्रवचनसारोद्धार** के किस क्रम पर हैं इसकी सूची इसी लेख के अन्त में यथास्थान प्रस्तुत है -

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका हैं **प्रवचनसारोद्धार** पर आचार्य सिद्धसेनसूरि की लगभग विक्रम की १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गई 'तत्त्वज्ञान-विकासिनी' नामक एक सरल किन्तु विशद टीका उपलब्ध होती है। टीकाकार सिद्धसेनसूरि की तीन अन्य कृतियों— १. **पद्मप्रभचरित्र** २. **समाचारी** और ३. एक **स्तुति** का उल्लेख मिलता है।

प्रवचनसारोद्धार की 'तत्त्वज्ञान-विकासिनी' नामक यह वृत्ति या टीका टीकाकार की बहुश्रुतता को अभिव्यक्त करती है। उन्होंने इसमें लगभग १०० ग्रन्थों का निर्देश किया है और उनके ५०० से अधिक सन्दर्भों का संकलन किया है। इन उद्धरणों की सूची भी पिण्डवाडा से प्रकाशित **प्रवचनसारोद्धार** भाग-२ के अन्त में दे दी गई है। इससे वृत्तिकार की बहुश्रुतता प्रामाणित हो जाती है। वृत्तिकार ने जहां

आवश्यकता हुई वहां न केवल अपनी विवेचना प्रस्तुत की अपितु पूर्व पक्ष को प्रस्तुत कर उसका समाधान भी किया। जहां कहीं भी उन्हें व्याख्या में मतभेद की सूचना प्राप्त हुई उन्होंने स्पष्ट रूप से अन्य मत का भी निर्देश किया है। इसी प्रकार जहां मूलपाठ के सन्दर्भ में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति दिखाई दी उन्होंने पाठ को अपनी दृष्टि से शुद्ध बनाने का भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की यह टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रवचनसारोद्धार की विषयवस्तु :-

प्रवचनसारोद्धार के प्रारम्भ में मंगल अभिधान के पश्चात् ६३ गाथाओं में इस के २७६ द्वारों का उल्लेख किया गया है। इन द्वारों के नामों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति में जैनधर्मदर्शन के विविध पक्षों को समाहित करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि **प्रवचनसारोद्धार** में मूल गाथाओं की संख्या मात्र १५९९ है फिर भी इसमें जैन धर्म दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों को समाहित करने का प्रयास किया गया है। मूल गाथाओं की संख्या कम होते हुए भी इसका विषय वैविध्य इतना है कि इसे "जैन धर्म दर्शन का लघु विश्वकोष" कहा जा सकता है। आगे हम इसके २७६ द्वारों की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

प्रवचनसारोद्धार के प्रथम द्वार में चैत्यवंदन विधि का विवेचन किया गया है। चैत्यवंदन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम दस त्रिकों की चर्चा की गई है। ये दस त्रिक निम्न हैं– १. त्रिनिषेधिका २. त्रिप्रदक्षिणा ३. त्रिप्रणाम ४. त्रिविधपूजा ५. त्रिअवस्था भावना ६. त्रिदशानिरीक्षण विरति ७. त्रिविध भूमि प्रमार्जन ८. वर्णत्रिक ९. मुद्रात्रिक और १०. प्रणिधान त्रिक।

चैत्यवन्दन हेतु जिन–भवन में प्रवेश करते सर्वप्रथम पुष्प, ताम्बूल आदि सचित्त द्रव्यों का परिहार करे, आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का परिहार नहीं करे और एक अधोवस्त्र तथा एक उत्तरीय धारण करे। ज्ञातव्य है कि कुछ आचार्यों के अनुसार यहाँ अहंकार सूचक अचित्त द्रव्य जैसे छत्र, चामर, मुकुट आदि के भी त्याग का निर्देश है। **प्रवचनसारोद्धार** की **टीका** इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना करती है। चक्षु द्वारा जिन प्रतिमा दिखाई देने पर अंजलि प्रग्रह करे और एकाग्रचित्त होकर पूर्वोक्त दसत्रिकों का अनुसरण करता हुआ जिन प्रतिमा को वन्दन करे । ये दसत्रिक निम्नानुसार हैं–

१. सर्वप्रथम निषेधिकात्रिक में गृही जीवन सम्बन्धी सावद्य व्यापार का प्रतिषेध २. जिन भवन सम्बन्धी सावद्य व्यापार का त्याग और ३. पूजा विधान सम्बन्धी सावद्य व्यापार का त्याग। कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार ये तीन निषेधिकाएं

इस प्रकार हैं–

१. जिन मन्दिर के मुख्य द्वार पर आकर गृह सम्बन्धी कार्यों का निषेध करें २. फिर जिन–मन्दिर के मध्य भाग (रंग–मण्डप) में प्रवेश करते समय सावद्य (हिंसक) वचन–व्यापार का निषेध करें और ३. गर्भगृह में प्रवेश करने पर सभी सावद्य (हिंसक) कार्यों के मानसिक चिन्तन का भी निषेध करें – यह निषेधिकात्रिक है।

२. जिन प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करना प्रदक्षिणा त्रिक है।

३. जिन प्रतिमा को तीन बार प्रणाम करना प्रणाम त्रिक है।

४. पूजात्रिक के अन्तर्गत तीन प्रकार की पूजा का उल्लेख किया गया है– १. पुष्प पूजा २. अक्षत पूजा और ३. स्तुति पूजा ।

५. जिन की छद्मस्थ, कैवल्य और सिद्ध– इन तीन अवस्थाओं का चिन्तन करना त्रि–अवस्था भावना है।

६. तीन दिशाओं में न देखकर मात्र जिन–बिम्ब के सन्मुख दृष्टि रखना त्रिदिशानिरीक्षणविरति है।

७. जिस भूमि पर स्थित रहकर जिन प्रतिमा को वन्दन करना है उस स्थल का गृहस्थ द्वारा वस्त्र अञ्चल से और मुनि द्वारा रजोहरण से तीन बार प्रमार्जन करना प्रमार्जनात्रिक है।

८. शब्द, अर्थ एवं आलम्बन (प्रतिमा) ये वर्ण–त्रिक हैं।

९. मुद्रात्रिक के अन्तर्गत तीन प्रकार की मुद्राएं बतायी गई हैं १. जिनमुद्रा २. योगमुद्रा ३. मुक्ताशुक्ति मुद्रा ।

१०. मन, वचन और काया की प्रवृतियों का संवरण करके परमात्मा की शरण ग्रहण करना प्रणिधान त्रिक है।

चैत्यवन्दनद्वार में उपरोक्त दश त्रिकों के साथ–साथ स्तुति एवं वन्दन विधि का तथा द्वादश अधिकारों का विवेचन है। अन्त में चैत्यवन्दन कब और कितनी बार करना आदि की चर्चा के साथ चैत्यवन्दन के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेदों का विवेचन करते हुए यह चैत्यवन्दन द्वार समाप्त होता है।

चैत्यवन्दन नामक प्रथम द्वार के पश्चात् **प्रवचनसारोद्धार** का दूसरा द्वार गुरुवन्दन के विधि–विधा एवं दोषों से सम्बन्धित है। प्रस्तुत कृति में गुरुवन्दन के १९२ स्थान वर्णित किये गये हैं– मुखवस्त्रिका, काय (शरीर) और आवश्यक क्रिया इन तीनों में प्रत्येक के पच्चीस–पच्चीस स्थान बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त स्थान सम्बन्धी छः, गुण सम्बन्धी छः, वचन सम्बन्धी छः, अधिकारी को वन्दन न करने

सम्बन्धी पाँच और अनधिकारी को वन्दन करने सम्बन्धी पाँच स्थान और प्रतिषेध सम्बन्धी पाँच स्थान बताये हैं। इसी क्रम में अवग्रह सम्बन्धी एक, अभिधान सम्बन्धी पाँच, उदाहरण सम्बन्धी पाँच, आशातना सम्बन्धी तेंतीस, वन्दन दोष सम्बन्धी बतीस एवं कारण सम्बन्धी आठ ऐसे कुल १९२ स्थानों का उल्लेख है। इस चर्चा में मुखवस्त्रिका के द्वारा काय अर्थात् शरीर के किन-किन भागों का कैसे प्रमार्जन करना चाहिए इसका विस्तृत एवं रोचक विवरण है। इसी क्रम में गुरुवन्दन करते समय खमासना के पाठ का किस प्रकार से उच्चारण करना तथा उस समय कैसी क्रिया करनी चाहिए इसका भी इस द्वार में निर्देश है। वन्दन के अनधिकारी के रूप में - १. पार्श्वस्थ २. अवसन्न ३. कुशील ४. संसक्त और ५. यथाछन्द ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों का न केवल उल्लेख किया गया है, अपितु उनके स्वरूप का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी क्रम में शीतलक, क्षुल्लक, श्रीकृष्ण, सेवक और पालक के दृष्टान्त भी दिये गये हैं। अन्त में तेंतीस, आशातनाओं और वन्दन सम्बन्धी बत्तीस दोषों एवं वन्दना के आठ कारण का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय द्वार लगभग १०० गाथाओं में सम्पूर्ण होते हैं।

प्रवचनसारोद्धार के तीसरे द्वार में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि तथा इनके अन्तर्गत किये जाने वाले कायोत्सर्ग एवं क्षामणकों (खमासना) की विधि का विवेचन किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि दैवसिक-प्रतिक्रमण में चार, रात्रिक प्रतिक्रमण में दो, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक में चालीस लोगस्स का ध्यान करना चाहिए। पुन: इसी प्रसंग में इनकी श्लोक संख्या एवं श्वासोश्वास की संख्या का भी वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से दैवसिक प्रतिक्रमण में १००, रात्रिक में ५०, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ५०० और वार्षिक में १००० श्वासोश्वास का ध्यान करना चाहिए। इसी क्रम में आगे क्षामणकों (गुरु से क्षमायाचना सम्बन्धी पाठ) की संख्या का भी विचार किया गया है।

चतुर्थ प्रत्याख्यान द्वार में सर्वप्रथम निम्न दस प्रत्याख्यानों की चर्चा है- १. भविष्य सम्बन्धी २. अतीत सम्बन्धी ३. कोटि सहित ४. नियन्त्रित ५. साकार ६. अनाकार ७. परिमाण व्रत ८. निरवशेष ९. सांकेतिक और १०. काल सम्बन्धी प्रत्याख्यान। सांकेतिक प्रत्याख्यान में दृष्टि, मुष्ठि, ग्रन्थी आदि जिन आधारों पर सांकेतिक प्रत्याख्यान किये जाते हैं उनकी चर्चा है। इसी क्रम में आगे समय सम्बन्धी दस प्रत्याख्यानों की चर्चा की गई है इसमें नवकारसी, अर्द्ध-पौरुषी, पौरुषी आदि के प्रत्याख्यानों की चर्चा है। इसी क्रम में दस विकृतियों (विगयों) की, बत्तीस

अनन्तकायों की और बावीस अभक्ष्यों की भी चर्चा की गई है। साथ ही इसमें शुद्ध प्रत्याख्यान के कारण एवं स्वरूप का विवेचन भी है। पाँचवां कायोत्सर्ग द्वार है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से कायोत्सर्ग के १९ दोषों की चर्चा की गई है इसी क्रम में इन दोषों के स्वरूप का भी किञ्चित् दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रवचनसारोद्धार का छठां द्वार श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारों का वर्णन करता है। इसके अन्तर्गत संलेखना के पाँच, कर्मादान के पन्द्रह, ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ, तप के बारह, वीर्य के तीन, सम्यकत्त्व के पाँच, अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों, दिक्व्रत आदि तीन गुणव्रतों, सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों–ऐसे श्रावक के बारह व्रतों के साठ अतिचारों का उल्लेख है। यह समस्त विवरण श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र के अनुरूप ही है।

प्रवचनसारोद्धार के सप्तमद्वार में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में हुए तीर्थंकरों (जिन) के नामों की सूची प्रस्तुत की गई है इसके अन्तर्गत जहाँ भरत क्षेत्र के अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों चौबीसियाँ के जिनों के नाम दिये गये हैं वहीं ऐरावत क्षेत्र के वर्तमान काल के जिनों के ही नाम दिये गये हैं।

हम देखते हैं कि **प्रवचनसारोद्धार** के प्रथम सात द्वारों तक तो अपने भेद–प्रभेदों के साथ विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है। किन्तु आठवें द्वार से विवेचन संक्षिप्त रूप में ही किया गया है।

इसी क्रम में अष्टम द्वार में चौबीस तीर्थंकरों के प्रथम गणधरों के नामों का भी उल्लेख है।

नवम द्वार के अन्तर्गत प्रत्येक तीर्थंकर की प्रवर्तनियों अर्थात् साध्वी–प्रमुखाओं के नामों का उल्लेख किया गया है।

दशम–द्वार के अन्तर्गत तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु जिन बीस स्थानकों की साधना की जाती है, उनकी चर्चा है। यह विवेचन **ज्ञाताधर्मकथा** के मल्ली अध्ययन में मिलता है।

ग्यारहवें द्वार में तीर्थंकरों की माताओं का उल्लेख है।

बारहवें–द्वार में तीर्थंकरों की माताएँ अपने देह का त्याग कर किस गति में उत्पन्न हुईं, इसकी चर्चा है।

तेरहवां–द्वार किसी काल विशेष में जिनों की जघन्य और उत्कृष्ट संख्या का विचार करता है।

चौहदवें–द्वार के अन्तर्गत यह बताया गया है कि किस जिन के जन्म के समय लोक में अधिकतम और न्यूनतम जिनों की संख्या कितनी थी।

पन्द्रहवां द्वार जिनों के गणधरों की समग्र संख्या का विवेचन करता है। इसी क्रम में आगे सोलहवें–द्वार में मुनियों की संख्या का, सत्रहवें –द्वार में साध्वियों की संख्या का, अठारहवें–द्वार में जिनों के वैक्रिय लब्धिधारक मुनियों की संख्या का, उन्नीसवें–द्वार में वादियों की संख्या का, बीसवें–द्वार में अवधि ज्ञानियों की संख्या का, इक्कीसवें–द्वार में केवल ज्ञानियों की संख्या का, बावीसवें द्वार में मनः पर्यवज्ञानियों की संख्या का, तेवीसवें– द्वार में चतुर्दश पूर्वो के धारकों की संख्या का, चौबीसवें–द्वार में जिनों के श्रावकों की संख्या का और पच्चीसवें–द्वार में श्राविकाओं की संख्या का निर्देश हुआ है।

इसी क्रम में छब्बीसवां–द्वार तीर्थंकरों के शासन–सहायक यक्षों के नाम का उल्लेख करता है तो सत्ताइसवां द्वार यक्षणियों के नामों को सूचित करता है।

प्रवचनसारोद्धार का अठावीसवां द्वार तीर्थंकरों के शरीर के परिमाण (लम्बाई) का निर्देश करता है तो उनतीसवां द्वार प्रत्येक तीर्थंकरों के विशिष्ट लांछन की चर्चा करता है।

तीसवें–द्वार में तीर्थंकरों के वर्ण अर्थात् शरीर के रंग की चर्चा की गई है।

इकतीसवां–द्वार किस तीर्थंकर के साथ कितने व्यक्तियों ने मुनिधर्म स्वीकार किया उनकी संख्या का निर्देश करता है।

बत्तीसवां–द्वार तीर्थंकरों की आयु का निर्देश करता है।

तेतीसवें–द्वार में प्रत्येक तीर्थंकरों ने कितने मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख है तो चौतीसवां–द्वार किस तीर्थंकर ने किस स्थान पर निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख करता हैं ।

"पैंतीसवां-द्वार' तीर्थंकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों के मध्य कितने-कितने काल का अन्तराल रहा है, इसका विवेचन प्रस्तुत करता है जबकि छत्तीसवें द्वार में इस बात की चर्चा है कि किस तीर्थंकर का तीर्थ या शासन कितने काल तक चला और बीच में कितने काल का अन्तराल रहा। इसप्रकार हम देखते हैं कि सातवें द्वार से लेकर छत्तीसवें द्वार तक उन्तीस द्वारों में मुख्यतः तीर्थंकरों से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का निर्देश किया गया है।

'सैंतीसवें द्वार' से लेकर 'सन्तानवे -द्वार तक इकसठ द्वारों में पुनः जैन सिद्धान्त और आचार सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि बीच में कहीं–कहीं तीर्थंकरों के तप आदि का भी निर्देश है। सैंतीसवें द्वार में दस आशातनाओं का उल्लेख है तो अड़तीसवें द्वार में चौरासी आशातनाओं का उल्लेख है। इसी चर्चा के प्रसंग में इस द्वार में मुनिचैत्य में कितने समय तक रह सकता है इसकी चर्चा भी

हुई है।

'उन्तालीसवें-द्वार' में तीर्थंकरों के आठ महाप्रतिहार्यों और 'चालीसवें-द्वार' में तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशयों (विशिष्टताओं) की चर्चा है।

'इकतालीसवां-द्वार' उन अठारह दोषों का उल्लेख करता है,जिनसे तीर्थंकर मुक्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में जिनको उन्होंने नष्ट कर दिया है।

'बयालीसवां-द्वार' जिन-शब्द के चार निक्षेपों की चर्चा करता है और यह बताता है कि ऋषभ, शान्ति, महावीर आदि जिनों के नाम नामजिन हैं जबकि कैवल्य और मुक्ति को प्राप्त जिन भावजिन अर्थात यथार्थजिन हैं। जिन-प्रतिमा को स्थापना जिन कहा जाता है और जो भविष्य में जिन होने वाले हैं वे द्रव्यजिन कहलाते हैं।

'तिरालीसवां-द्वार किस तीर्थंकर ने दीक्षा के समय कितने दिन का तप किया था इसका विवेचन करता है इसी क्रम में चवालीसवें द्वार में किस तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय कितने दिन का तप था, इसका उल्लेख है। आगे पैतालीसवें-द्वार में तीर्थंकरों द्वारा अपने निर्वाण के समय किये गये तप का उल्लेख है।

प्रस्तुत कृति का छियालीसवां-द्वार उन जीवों का उल्लेख करता है जो भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हैं।

सैतालीसवें-द्वार में इस बात की चर्चा की गई है कि उर्ध्वलोक, तिर्यकलोक, जल, स्थल आदि स्थानों से एक साथ कितने व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

'अड़तालीसवां-द्वार हमें यह सूचना देता है कि एक समय में एक साथ कितने पुरुष, कितनी स्त्रियां अथवा कितने नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।

उनचासवें-द्वार में सिद्धों के भेदों की चर्चा है। ज्ञातव्य है कि वैसे तो सिद्धों में कोई भेद नहीं होता किन्तु जिस पर्याय/अवस्था से सिद्ध हुए हैं, उसके आधार पर सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा की गई है।

पचासवें द्वार में सिद्धों की अवगाहना अर्थात् उनके आत्म-प्रदेशों के विस्तार-क्षेत्र की चर्चा की गई है। इसी क्रम में यह बताया गया है कि उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो, जघन्य अवगाहना वाले चार तथा मध्यम अवगाहना वाले एक सौ आठ व्यक्ति एक साथ सिद्ध हो सकते हैं। अवगाहना के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए प्रस्तुत कृति के टीकाकार ने यह भी बताया है कि उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष और जघन्य अवगाहना दो हाथ परिमाण होती है। यहां यह ज्ञातव्य है कि सिद्धों की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहना के सन्दर्भ में विशेष चर्चा प्रस्तुत कृति के छप्पनवें, सत्तावनवें एवं अट्ठावनवें द्वार में भी की गयी है।

'इकावनवें-द्वार में स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग की अपेक्षा से एक समय में कितने सिद्ध हो सकते हैं इसका विवेचन किया गया है। गृहस्थ लिंग से चार, अन्यलिङ्ग से दस और स्वलिंग से एक सौ आठ व्यक्ति एक समय में सिद्ध हो सकते हैं। आगे 'बावनवें-द्वार में यह बताया गया है कि निरन्तर अर्थात् बिना अन्तराल कितने समय तक जीव सिद्ध हो सकते हैं और उनकी संख्या कितनी होती है।

'त्रेपनवें-द्वार में स्त्री, पुरुष और नपुंसक की अपेक्षा से एक समय में कितने व्यक्ति सिद्ध हो सकते हैं, इसकी चर्चा है। इस सन्दर्भ में यह बताया गया है कि एक समय में बीस स्त्रियां, एक सौ आठ पुरुष और दस नपुंसक शरीर पर्याय से सिद्ध हो सकते हैं। पुनः इसी द्वार में यह भी बताया गया है कि नरक, भवनपति, व्यंतर और तिर्यकलोक के स्त्रीपुरुष तथा अकल्पवासी अर्थात् ग्रैवेयक एवं अनुत्तरविमानवासी देव पुनः मनुष्यभव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं तो वे एक समय में अधिकतम दस-दस व्यक्ति ही सिद्ध हो सकते हैं। कल्पवासी देवों से मनुष्य जन्म ग्रहण कर मुक्त होने वाले जीवों की अधिकतम संख्या एक सौ साठ हो सकती है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और पंकप्रभा आदि से मनुष्य भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करने वाले एक समय में चार-चार व्यक्ति ही सिद्ध हो सकते हैं।

चौपनवें-द्वार में सिद्धों के आत्म-प्रदेशों के संस्थान (विस्तार क्षेत्र) की चर्चा की गई है। इस चर्चा में उत्तानक, अर्धअवनत, पार्श्वस्थित, स्थित, उपविष्ट आदि संस्थानों की चर्चा भी की गई है। इसके पश्चात् पचपनवें द्वार में सिद्धों की अवस्थिति की चर्चा है। वस्तुतः इस प्रसंग में सिद्ध शिला के ऊपर और अलोक से नीचे कितने मध्य भाग में सिद्ध अवस्थित रहे हुए हैं, यह बताया गया है । पुनः जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है ५६-५७ वें और ५८वें द्वार में सिद्धों की उत्कृष्ट-मध्यम और जघन्य अवगाहना की चर्चा की गई है। उन्सठवें द्वार में लोक की शाश्वत जिन प्रतिमाओं का उल्लेख है।

साठवें द्वार में जिन कल्प का पालन करने वाले मुनियों के और इकसठवें द्वार में स्थविर कल्प का पालन करने वाले मुनियों के उपकरणों का उल्लेख है। इसी प्रसंग में स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध के स्वरूप की चर्चा भी की गयी है।

बासठवें द्वार में साध्वियों के उपकरणों की चर्चा है। जबकि त्रेसठवां द्वार जिन कल्पिकों की संख्या के सम्बन्ध में विवेचन करता है, चौसठवें द्वार में आचार्य के ३६ गुणों का निर्देश किया गया है, इसी प्रसंग में आचार्य की आठ सम्पदाओं की भी विस्तार से चर्चा की गई है। ज्ञातव्य है कि यहाँ आचार्य के इन छत्तीस गुणों की

चर्चा अनेक अपेक्षाओं से उपलब्ध होती है।

पैसठवें द्वार में जहाँ विनय के बावन भेदों की चर्चा है, वहीं छियासठवें द्वार में चरण सत्तरी और सड़सठवें द्वार में करण सत्तरी का विवेचन है। पंच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दस प्रकार की वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियां, तीन रत्नत्रय, बारह तप और क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह ये चरण सत्तरी के सत्तर भेद हैं।

प्रस्तुत कृति में यह भी बताया गया है कि अन्य-अन्य आचार्यों की कृतियों में चरण सत्तरी के इन सत्तर भेदों का वर्गीकरण किस-किस प्रकार से किया गया है।

करण-सत्तरी के अन्तर्गत सोलह उद्गम दोषों, सोलह उत्पादन दोषों, दस एषणा दोषों, पांच ग्रासेषणा दोषों, पांच समितियों, बारह भावनाओं, पांच इन्द्रियों का निरोध, तीन गुप्ति आदि की चर्चा की गई है।

अड़सठवें द्वार में जंघाचारण और विद्याचारण लब्धि अर्थात् आकाश गमन सम्बन्धी विशिष्ट शक्तियों की चर्चा की गई है।

उनहतरवें द्वार में परिहार विशुद्धि तप के स्वरूप का और सत्तरवें द्वार में यथालन्दिक के स्वरूप का विवेचन है।

इकहत्तरवें द्वार में अड़तालीस निर्यामकों और उनके कार्य विभाजन की चर्चा है। निर्यामक समाधिमरण ग्रहण किये हुए मुनि की परिचर्या करने वाले मुनियों को कहा जाता है।

बहत्तरवें द्वार में पंच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं की विवेचना की गई है। इसी क्रम में तिहत्तरवां द्वार आसुरी आदि पच्चीस अशुभ भावनाओं का विवेचन करता है।

चौहत्तरवें द्वार में विभिन्न तीर्थंकरों के काल में महाव्रतों की संख्या कितनी होती है, इसका निर्देश किया गया है।

७५वें द्वार में चौदह कृतिकर्मों की चर्चा है। कृतिकर्म का तात्पर्य आचार्य आदि ज्येष्ठ मुनियों के वंदन से है।

७६वें द्वार में भरत, ऐरावत आदि क्षेत्रों में कितने चारित्र होते हैं, इसकी चर्चा करता है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय में भरत और ऐरवत क्षेत्र में सामायिक आदि पांच चारित्र पाये जाते हैं किन्तु शेष बाइस तीर्थंकरों के समय में इन क्षेत्रों में सामायिक, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात ये तीन चारित्र उपलब्ध होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में पूर्वोक्त तीन चारित्र ही होते हैं। इन क्षेत्रों में छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्धि चारित्र का कदाचित् अभाव होता है।

७७वें और ७८वें द्वार में यह बताया गया है कि दस स्थितिकल्पों में मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के समय में चार स्थित, छः वैकल्पिक कल्प होते हैं जबकि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में दस ही स्थित कल्प होते हैं।

७९ वें द्वार में निम्न प्रकार के चैत्यों का उल्लेख हुआ है — (१) भक्ति चैत्य (२) मंगल चैत्य (३) निश्राकृत चैत्य (४) अनिश्राकृत चैत्य और (५) शाश्वत चैत्य।

८०वें द्वार में निम्न पांच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख हुआ है — (१) गण्डिका (२) कच्छपी (३) मुष्टि (४) संयुक्त फलक (५) छेदपाटी । इसी क्रम में ८१ वें द्वार में पांच प्रकार के दण्डों का, ८२ वें द्वार में पांच प्रकार के तृणों का, ८३ वें द्वार में पांच प्रकार के चमड़े का और ८४ वें द्वार में पांच प्रकार के वस्त्रों का विवेचन किया गया है।

८५वें द्वार में पांच प्रकार के अवग्रहों (ठहरने के स्थानों) का और ८६ वें द्वार में बाइस परीषहों का विवेचन किया गया है।

८७वें द्वार में सात प्रकार की मण्डलियों का उल्लेख है तो ८८ वें द्वार में जम्बूस्वामी के समय में जिन दस बातों का विच्छेद हुआ, उनका उल्लेख है।

८९वें द्वार में क्षपक श्रेणी का और ९०वें द्वार में उपशम श्रेणी का विवेचन है।

९१वें द्वार में स्थण्डिल भूमि (मूल–मूत्र विसर्जन करने का स्थान) कैसी होनी चाहिए- इसका विवेचन उपलब्ध होता है।

९२वें द्वार में चौदह पूर्वी और उनके विषय तथा पदों की संख्या आदि का निर्देश किया गया है।

९३वें द्वार में निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक-ऐसे पांच प्रकारों की चर्चा है।

९४वें द्वार में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरूक और आजीवक ऐसे पांच प्रकार के श्रमणों की चर्चा है।

९५वें द्वार में संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण ऐसे ग्रासैषणा के पांच दोषों का विवेचन किया गया है। मुनि को भोजन करते समय स्वाद के लिये भोज्य पदार्थों का सम्मिश्रण करना, परिमाण से अधिक आहार करना, भोज्य पदार्थों में राग रखना, प्रतिकूल भोज्य पदार्थों की निन्दा करना और अकारण आहार करना निषिद्ध है।

९६वें द्वार में पिण्ड-पाणैषणा के सात प्रकारों का उल्लेख हुआ है।

९७वें द्वार में भिक्षाचर्या अष्टक अर्थात् भिक्षाचर्या के आठ प्रकारों का विवेचन

किया गया है।

९८वें द्वार में दस प्रायश्चितों का विवेचन किया गया है। दस प्रायश्चित निम्न हैं— (१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) आलोचना सहित प्रतिक्रमण (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप (७) छेद (८) मूल (९) अनवस्थित उपस्थापना और (१०) पाराञ्चिक।

९९वें द्वार में ओघसमाचारी अर्थात् सामान्य समाचारी का विवेचन है, यह विवेचन **ओघनिर्युक्ति** में प्रतिपादित समाचारी पर आधारित है।

१००वें द्वार में पद विभाग समाचारी का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि छेदसूत्रों में वर्णित समाचारी पद विभाग समाचारी कहलाती है।

१०१वें द्वार में चक्रवाल समाचारी का विवेचन किया गया है। चक्रवाल समाचारी इच्छाकार, मिथ्याकार आदि दस प्रकार की है। यह समाचारी **उत्तराध्ययन** और **भगवतीसूत्र** में भी वर्णित है। प्रस्तुत कृति में इस समाचारी का विस्तृत विवेचन है।

१०२वें द्वार में उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी का विवेचन किया गया है।

१०३वें द्वार में गीतार्थ विहार और गीतार्थ आश्रित विहार का निर्देश है। इसी सन्दर्भ में यात्रा करते समय किस प्रकार की सावधानी रखना चाहिये, इसका भी विवेचन किया गया है। ज्ञातव्य है कि आगम के साथ-साथ देश-काल और परिस्थिति का आकलन करने में समर्थ साधक गीतार्थ कहलाता है।

१०४वें द्वार में अप्रतिबद्ध विचार का निर्देश है। इसमें यह बताया गया है कि मुनि चातुर्मास काल में चारमास तक, अन्य काल में एक मास तक एक स्थान पर रह सकता है, उसके पश्चात् सामान्य परिस्थिति में विहार करना चाहिए।

१०५वें द्वार में जातकल्प और अजातकल्प का निर्देश है। श्रुतसम्पन्न गीतार्थ मुनि के साथ यात्रा करना जातकल्प है और इससे भिन्न अजातकल्प । इसी क्रम में ऋतुबद्ध बिहार को सम्मत विहार कहा गया है और इससे भिन्न विहार को असम्मत विहार कहा गया है।

१०६वें द्वार में मल–मूत्र आदि के प्रतिस्थापन अर्थात् विसर्जन की विधि का विवेचन है। इसी प्रसंग में विभिन्न दिशाओं का भी विचार किया गया है।

१०७वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य अट्ठारह प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया गया है। इसी क्रम में १०८ वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य बीस प्रकार की स्त्रियों का भी उल्लेख है।

१०९वें द्वार में नपुंसकों को और११० वें द्वार में विकलांगों को दीक्षा के अयोग्य बताया गया है। नपुंसकों की चर्चा करते हुए टीका में उनके सोलह प्रकारों का उल्लेख हुआ है और सोलह प्रकारों में से दस प्रकार को दीक्षा के अयोग्य और छः प्रकार को दीक्षा के योग्य माना गया है।

१११वें द्वार में साधु को कितने मूल्य का वस्त्र कल्प्य (ग्राह्य) है उसका विवेचन किया गया है । इसी प्रसंग में विभिन्न प्रदेशों और नगरों में मुद्रा विनिमय का पारस्परिक अनुपात क्या था, इसकी भी चर्चा हुई है।

यहाँ यह भी बताया गया है कि एक लाख साभारक के मूल्य वाला वस्त्र उत्कृष्ट होता है और अट्ठारह साभारक या उससे भी कम मूल्यवाला वस्त्र जघन्य होता है। इन दोनों के मध्य का वस्त्र मध्यम कोटि का माना जाता है। मुनि के लिये अल्प मूल्य का वस्त्र ही ग्रहण करने योग्य है।

११२वें द्वार में शय्यातर पिण्ड अर्थात जिसने निवास के लिये स्थान दिया हो उसके यहाँ से भोजन ग्रहण करना निषिद्ध माना गया है। इसी क्रम में अट्ठारह प्रकार के शय्यातरों का उल्लेख भी हुआ है।

११३वें द्वार में श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा हुई है।

११४वें द्वार में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का पांच प्रकार के ज्ञानों से और चार प्रकार की गतियों से सम्बन्ध बताया गया है।

११५वें द्वार में जिस क्षेत्र में सूर्य उदित हो गया है उस क्षेत्र से ग्रहीत अशन आदि ही कल्प्य होता है, शेष कालातिक्रान्त कहलाता है जो अकल्प्य (अग्राह्य) है।

११६वें द्वार में यह बताया गया है कि दो कोस से अधिक दूरी से लाया गया भोजन-पान क्षेत्रातीत कहलाता है और यह मुनि के लिये अकल्प्य है।

११७वें द्वार में यह बताया गया है कि प्रथम प्रहर में लिया गया भोजन-पान आदि तीसरे प्रहर तक भोज्य होते हैं उसके बाद वे कालातीत होकर अकल्प्य हो जाता हैं।

११८ वें द्वार में पुरुष के लिये बत्तीस कवल भोजन ही ग्राह्य माना गया है। इससे अधिक भोजन प्रमाणतिक्रान्त होने से अकल्प्य माना जाता है।

११९वें द्वार में चार प्रकार के निवास स्थानों को दुःख शय्या बताया गया है। इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिन स्थानों पर अश्रद्धालु जन रहते हों, जहाँ पर दूसरों से कुछ प्राप्ति के लिये प्रार्थनायें की जाती हों, जहाँ मनोज्ञ शब्द, रूप अथवा भोजन आदि मिलते हों और जहाँ मर्दन आदि होता हो, वे स्थान मुनि

के निवास के अयोग्य हैं। १२० वें द्वार में उसके विपरीत चार प्रकार की सुखशय्या अर्थात् मुनि के निवास के योग्य माने गये हैं।

१२१वें द्वार में तेरह क्रिया स्थानों की, १२२ वें द्वार में श्रुत सामायिक, दर्शन सामायिक, देश समयिक और सर्वसामायिक ऐसी चार प्रकार सामायिक की और १२३ वें द्वार में अट्ठारह हजार शीलांगों की चर्चा है। पुनः १२४ वें द्वार में सात नयों की चर्चा की गई है जबकि १२५वें द्वार में मुनि के लिये वस्त्र ग्रहण की विधि बतायी गयी है।

१२६वें द्वार में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ऐसे पांच व्यवहारों की चर्चा है।

१२७वें द्वार में निम्न पांच प्रकार के यथाजात का उल्लेख है। (१) चोलपट्ट (२) रजोहरण (३) और्णिक (४) क्षौमिक और (५) मुखवस्त्रिका । इन उपकरणों से ही श्रमण का जन्म होता है। अतः इन्हें यथाजात कहा गया है।

१२८वें द्वार में मुनियों के रात्रि जागरण की विधि का विवेचन है। उसमें बताया गया है कि प्रथम प्रहर में आचार्य, गीतार्थ और सभी साधु मिलकर स्वाध्याय करें। दूसरे प्रहर में सभी मुनि और आचार्य सो जायें और गीतार्थ मुनि स्वाध्याय करें। तीसरे प्रहर में आचार्य जागृत होकर स्वाध्याय करें और गीतार्थ मुनि सो जायें। चौथे प्रहर में सभी साधु उठकर स्वाध्याय करें। आचार्य और गीतार्थ सोये रहें क्योंकि उन्हें बाद में प्रवचन आदि कार्य करने होते हैं।

१२९वें द्वार में जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जा सकती है उसको खोजने की विधि बताई गई है।

१३०वें द्वार में प्रति जागरण के काल के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

१३१ वें द्वार में मुनि की उपधि अर्थात् संयमोपकरण के धोने के काल का विवेचन है। इसमें यह बताया गया है कि किस उपधि को कितने काल के पश्चात् धोना चाहिए ।

१३२वें द्वार में साधु-साध्वियों के आहार की मात्रा कितनी होना चाहिये, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतः यह बताया गया है कि मुनि को बड़े आंवले के आकार के बत्तीस कौर और साध्वी को अट्ठावीस कौर आहार ग्रहण करना चाहिए।

१३३वें द्वार में वसति अर्थात् मुनि के निवास की शुद्धि आदि का विवेचन किया गया है। मुनि के लिये किस प्रकार का आवास ग्राह्य होता है इसकी विवेचना इस द्वार में की गई है।

१३४वें द्वार में संलेखना सम्बन्धी विधि-विधान का विस्तृत विवेचन किया

गया है।

१३५वें द्वार में यह बताया गया है कि नगर की कल्पना पूर्वाभिमुख वृषभ के रूप में करे उसके पश्चात् उसे उस वृषभ रूप कल्पित नगर में किस स्थान पर निवास करना है, इसका निश्चय करे। इसमें यह बताया गया है किस अंग/क्षेत्र में निवास करने का क्या फल होता है।

१३६वें द्वार में किस ऋतु में किस प्रकार का जल किसने काल तक प्रासुक रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतया यह माना जाता है कि उष्ण किया हुआ प्रासुक जल ग्रीष्म ऋतु में पांच प्रहर तक, शीत ऋतु में चार प्रहर तक और वर्षा ऋतु में तीन प्रहर तक प्रासुक (अचित) रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है। यद्यपि चूना आदि डालकर अधिक समय तक उसे प्रासुक रखा जा सकता है।

१३७वें द्वार में पशु-पक्षी आदि तीर्यञ्च-जीवों की मादाओं के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

१३८वें द्वार में इस अवसर्पिणी काल में घटित हुए इस प्रकार के आश्चर्यों जैसे महावीर के गर्भ का संहरण, स्त्री-तीर्थंकर आदि का वर्णन किया गया है।

१३९वें द्वार में सत्य, मृषा, सत्य मृष (मिश्र) और असत्य-अमृषा ऐसी चार प्रकार की भाषाओं का उनके आवान्तर भेदों और उदाहरणों सहित विवेचन किया गया है।

१४०वां द्वार वचन षोड़सक अर्थात् सोलह प्रकार के वचनों का उल्लेख करता है।

१४१वें द्वार में मास पंचक और १४२वें द्वार में वर्ष पंचक का विवेचन है।

१४३वें द्वार में लोक के स्वरूप (आकार-प्रकार) का विवेचन है इसी क्रम में यहाँ लोक पुरुष की भी चर्चा की गयी है।

१४४ से लेकर १४७ तक चार द्वारों में क्रमशः तीन, चार, दस और पन्द्रह प्रकार की संज्ञाओं का विवेचन किया गया है।

१४८वें द्वार में सम्यक्त्व सड़सठ भेदों का विवेचन है, जबकि १४९वें द्वार में सम्यक्त्व के एक-दो आदि विभिन्न भेदों की विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है।

१५०वें द्वार के अन्दर पृथ्वीकाय आदि षड् जीवनिकायके कुलों की संख्या का विवेचन है। प्राणियों की प्रजाति को योनि और उनकी उप प्रजातियों को कुल कहते हैं। इन कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजार मानी गई है।

१५१वें द्वार में चौरासी लाख जीव योनियों का विवेचन किया गया है। इस द्वार में पृथ्वीकाय की सात लाख, अपकाय की सात लाख, अग्निकाय की सात लाख, वायुकाय की सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख, साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चउरिन्द्रिय की दो लाख, नारक चार लाख, देवता चार लाख, तिर्यञ्च चार लाख, मनुष्यों की चौदह लाख प्रजाति (योनि) मानी गयी है।

१५२वें द्वार में कालत्रिक, द्रव्य षट्क, नवपदार्थ, जीव निकाय षट्क, षट्लेश्या, पंच अस्तिकाय, पांच व्रत, पांच गति, पांच चारित्र का निर्देश है।

१५३वें द्वार में गृहस्थ उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन है। ये ग्यारह प्रतिमायें निम्न हैं : (१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत प्रतिमा (३) सामायिक प्रतिमा (४) पौषधोपवास प्रतिमा (५) नियम प्रतिमा (६) सचित त्याग प्रतिमा (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (८) आरम्भ त्याग प्रतिमा (९) प्रेष्य त्याग प्रतिमा (१०) औद्देशिक आहार त्याग प्रतिमा (११) श्रमणभूत प्रतिमा ।

१५४वें द्वार में विभिन्न प्रकार के धान्यों के बीज कितने काल तक सचित्त रहते हैं और कब निर्जीव हो जाते हैं: इसका विवेचन किया गया है।

१५५वें द्वार में कौन सी वस्तुयें क्षेत्रातीत होने पर अचित हो जाती हैं इसका विवेचन किया गया है। इसी क्रम में १५६वें द्वार में गेहूं, चावल, मूंग-तिल आदि चौबीस प्रकार के धान्यों का विवेचन है।

१५७ वें द्वार में **समवायांगसूत्र** के समान सत्रह प्रकार के मरणों (मृत्यु) का विवेचन है।

१५८ वें और १५९ वें द्वारों में क्रमशः पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में १६० वें और १६१ वें द्वारों में क्रमशः अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल के स्वरूप का विवेचन किया गया है उसके पश्चात् १६२ वें द्वार में पुद्गल परावर्त काल के स्वरूप का विवेचन हुआ है।

१६३ वें और १६४ वें द्वारों में क्रमशः पन्द्रह कर्म भूमियों और तीस अकर्म भूमियों का विवेचन किया गया है।

१६५ वें द्वार में जातिमद, कुलमद आदि आठ प्रकार के भेदों (अहंकारों) का विवेचन है।

१६६ वें द्वार में हिंसा के दो सौ तिरालिस भेदों का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार १६७ वें द्वार में परिणामों के एक सौ आठ भेदों की चर्चा की

गई है।

१६८ वें द्वार में ब्रह्मचर्य के अट्ठारह प्रकारों की चर्चा है और १६९ वें द्वार में काम के चौबीस भेदों का विवेचन किया गया है।

इसी क्रम में आगे १७० वें द्वार में दस प्रकार के प्राणों की चर्चा की गई है। जैन दर्शन में पाँच इन्द्रियाँ, मन–वचन और काया–ऐसे तीन बल, श्वासोश्वास और आयु ऐसे दस प्राण माने गये हैं।

१७१ वें द्वार में दस प्रकार के कल्पवृक्षों की चर्चा है।

१७२ वें द्वार में सात नरक भूमियों के नाम और गोत्र का विवेचन किया गया है।

आगे १७३ से लेकर १८२ तक के सभी द्वार नारकीय जीवन के विवेचन से सम्बद्ध हैं। १७३ वें द्वार में नरक के आवासों का, १७४ वें द्वार में नारकीय वेदना का, १७५ वें द्वार में नारकों की आयु का, १७६ वें द्वार में नारकीय जीवों के शरीर की लम्बाई आदि का विवेचन किया गया है।

पुनः १७७ वें द्वार में नरकगति, प्रतिसमय उत्पत्ति और अन्तराल का विवेचन है।

१७८ वां द्वार किस नरक के जीवों में कौन सी द्रव्य लेश्या पाई जाती है इसका विवेचन करता है, जबकि १७९ वां द्वार नारक जीवों के अवधिज्ञान के स्वरूप का विवेचन करता है।

१८० वें द्वार में नारकीय जीवों को दण्डित करने वाले परमाधामी देवों का विवेचन किया गया है।

१८१ वें द्वार में नारकीय जीवों की उपलब्धि अर्थात् शक्ति का विवेचन है जबकि १८२ वें, १८३ और १८४ वें द्वारों में नारकीय जीवों के उपपात अर्थात् जन्म का विवेचन प्रस्तुत है। इसमें यह बताया गया है कि जीव किन योनियों से मरकर कौन से नरक में उत्पन्न होता है और नारकीय जीव मरकर तिर्यंच और मनुष्य योनियों में कहाँ–कहाँ जन्म लेते हैं।

१८५ से १९१ तक के सात द्वारों में क्रमशः एकेन्द्रिय जीवों की काय स्थिति, भवस्थिति, शरीर परिणाम, इन्द्रियों के स्वरूप, इन्द्रियों के विषय, एकेन्द्रिय जीवों की लेश्या तथा उनकी गति और आगति का विवेचन उपलब्ध होता है।

१९२ और १९३ वें द्वारों में विकलेन्द्रिय आदि की उत्पत्ति, च्यवन एवं विरहकाल (अन्तराल) का तथा जन्म और मृत्यु प्राप्त करने वालों की संख्या का

विवेचन है।

१९४ वें द्वार में भवनपति आदि देवों की कायस्थिति, १९५ वें में उनके भवनादि का स्वरूप, १९६ वें द्वार में इन देवों के शरीर की लम्बाई आदि और १९७ वें द्वार में विभिन्न देवों में पाई जाने वाली द्रव्य लेश्या का विवेचन है। इसी क्रम में १९८ वें द्वार में देवों के अवधिज्ञान के स्वरूप का और १९९ वें द्वार में देवों की उत्पत्ति में होने वाले विरहकाल का विवेचन है।

२०० वें द्वार में देवों की उपपात के विरहकाल का और २०१ वें द्वार में देवों के उपपात की संख्या का विवेचन किया गया है।

२०२ और २०३ वें द्वारों में क्रमशः देवों की गति और आगति का विवेचन है।

२०४ वां द्वार सिद्ध गति में जाने वाले जीवों के बीच जो अन्तराल अर्थात् विरहकाल होता है उसका विवेचन करता है।

२०५ वें द्वार में जीवों के आहारादि स्वरूप का विवेचन है।

२०६ वें द्वार में तीन सौ त्रेसठ पाखंडी मतों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२०७ वें द्वार में प्रमाद के आठ भेदों का विवेचन है।

२०८ वें द्वार में बारह चक्रवर्तियों का, २०९ वें द्वार में नौ बलदेवों का, २१० वें द्वार में नौ वासुदेवों का और २११ वें द्वार में नौ प्रतिवासुदेवों का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

२१२ वें द्वार में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के क्रमशः चौदह और सात रत्नों का विवेचन है।

२१३ वें द्वार में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की नव निधियों का विवेचन किया गया है।

२१४ वां द्वार विभिन्न योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की संख्या आदि का विवेचन करता है।

२१५ वें द्वार से लेकर २२० वें द्वार तक छः द्वारों में जैन कर्म सिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। इनमें क्रमशः आठ मूल प्रकृतियों, एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियों, उनके बन्ध आदि के स्वरूप तथा उनकी स्थिति का विवेचन किया गया है। अन्तिम दो द्वारों में क्रमशः बयालीस पुण्य प्रकृतियों का और बयासी पाप प्रकृतियों का विवेचन है।

२२१ वें द्वार में जीवों के क्षायिक आदि छ: प्रकार के भावों का विवेचन है। इसके साथ ही इस द्वार में विभिन्न गुणस्थानों में पाये जाने वाले विभिन्न भावों का भी विवेचन किया गया है।

२२२ वां एवं २२३ वां द्वार क्रमश: जीवों के चौदह और अजीवों के चौदह प्रकार का विवेचन करता है।

२२४ वें द्वार में १४ गुणस्थानों का, २२५ वें द्वार में चौदह मार्गणाओं का, २२६ वें द्वार में बारह उपयोगों का और २२७ वें द्वार में पन्द्रह योगों का विवेचन है।

२३७ वें द्वार में अट्ठारह प्रकार के पापों का विवेचन है।

२३८ वें द्वार में मुनि के सत्ताइस मूल गुणों का विवेचन है।

२३९ वें द्वार में श्रावक के इक्कीस गुणों का विवेचन किया गया है।

२४० वें द्वार में तिर्यंच जीवों की गर्भ स्थिति के उत्कृष्ट काल का विवेचन किया गया है जबकि २४१ वें द्वार में मनुष्यों की गर्भ स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन है। २४२वां द्वार मनुष्य की काय स्थिति को स्पष्ट करता है।

२४३ वें द्वार में गर्भ में स्थिति जीव के आहार के स्वरूप का विवेचन है तो २४४ वें द्वार में गर्भ का धारण कब सम्भव होता है इसका विवरण दिया गया है। २४५ और २४६ वें द्वार में क्रमश: यह बताया गया है कि एक पिता के कितने पुत्र हो सकते हैं? और एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं। आधुनिक जीव विज्ञान की दृष्टि से यह एक रोचक विषय है।

२४७ वें द्वार में स्त्री-पुरुष कब संतानोत्पत्ति के अयोग्य होते हैं इसका विवेचन किया गया है । २४८ वें द्वार में वीर्य आदि की मात्रा के सम्बन्ध में चर्चा की गई है इसमें यह भी बताया है कि एक शरीर में रक्त, वीर्य आदि की कितनी मात्रा होती है।

२४९ वें द्वार में सम्यक्त्व आदि की उपलब्धि में किस अपेक्षा से कितना अन्तराल होता है इसका विवेचन किया गया है।

२५० वें द्वार में मनुष्य भव में किनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२५१ वें द्वार में ग्यारह अंगों के परिमाण का और २५२ वें द्वार में चौदह पूर्वों के परिमाण का विवेचन है। इनमें मुख्य रूप से यह बताया है कि किस अंग और किस पूर्व की कितनी श्लोक संख्या होती है।

२५३ वें द्वार में लवण शिखा के परिमाण का उल्लेख है।

२५४ वां द्वार विभिन्न प्रकार के अंगुलों (माप विशेष) का विवेचन करता है।

२५५ वें द्वार में त्रसकाय के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२५६ वें द्वार में छः प्रकार के अनन्तकायों की चर्चा है।

२५७ वें द्वार में निमित्त शास्त्र के आठ अंगों का विवेचन है। दूसरे शब्दों में यह द्वार अष्टांग निमित्त शास्त्र का विवेचन करता है।

२५८ वें द्वार में मान और उन्मान अर्थात् माप–तौल सम्बन्धी विभिन्न पैमाने दिये गये हैं।

२५९ वें द्वार में अट्ठारह प्रकार के भोज्य पदार्थों का विवेचन है। २६० वां द्वार षट् स्थानक हानि वृद्धि नामक जैन दर्शन की विशिष्ट अवधारणा का विवेचन करता है। २६१ वें द्वार में उन जीवों का निर्देश है, जिनका संहरण सम्भव नहीं होता है। इसमें बताया गया है कि श्रमणी, अपगतवेद, परिहारविशुद्धचारित्र, पुलाकलब्धि, अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती, चौदह पूर्वधर एवं आहारकलब्धि से सम्पन्न जीवों का संहरण नहीं होता है।

२६२ वें द्वार में छप्पन अन्तर्द्वीपों का विवेचन किया गया है।

२६३ वें द्वार में जीवों का पारस्परिक अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

२६४ वें द्वार में युगप्रधान सूरियों अर्थात् आचार्यों की संख्या का विवेचन किया गया है।

२६५ वें द्वार में ऋषभ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त तीर्थ की स्थिति का विचार किया गया है।

२६६ वां द्वार विभिन्न देवलोकों में देवता अपनी काम वासना की पूर्ति कैसे करते हैं, इसका विवरण प्रस्तुत करता है।

२६७ वें द्वार में कृष्णराजी का विवेचन है।

२६८ वां द्वार अस्वाध्याय के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करता है।

२६९ वें द्वार में नन्दीश्वर द्वीप के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२७० वें द्वार में विभिन्न प्रकार की लब्धियों (विशिष्ट शक्तियों) का विवेचन है।

२७१ वें द्वार में छः आन्तर और छः बाह्य तपों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन है।

२७२ वें द्वार में दस पातालकलशों के स्वरूप का विवेचन है।

२७३ वें द्वार में आहारक शरीर के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२७४ वें द्वार में अनार्य देशों का और २७५ वें द्वार में आर्य देशों का

विवेचन है।

अन्तिम २७६ वां द्वार सिद्धों के इकत्तीस गुणों का विवरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यह विशालकाय कृति २७६ द्वारों (अध्यायों) में जैन दर्शन के २७६ विशिष्ट पक्षों के विवेचन के साथ समाप्त होती है। यही कारण है कि इस कृति को जैन धर्म दर्शन का एक छोटा विश्वकोष कहा जा सकता है।

हमें यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर जैन दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर रही है। इससे जन सामान्य और विद्वत वर्ग दोनों का ही उपकार होगा। क्योंकि इसका हिन्दी भाषा में कोई भी अनुवाद उपलब्ध नहीं था। परम विदुषी साध्वी श्री हेमप्रभा श्री जी० म०सा० ने इस विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने का जो कठिनतर कार्य किया है, वह स्तुत्य तो है ही, साथ ही उनकी बहुश्रुतता का परिचायक भी है। ऐसे दुरूह प्राकृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करना सहज नहीं था, यह उनके साहस का ही परिणाम है कि उन्होंने न केवल इस महाकार्य को हाथ में लिया, अपितु प्रामाणिकता के साथ इसे सम्पूर्ण भी किया। अनुवाद में उन्होंने मूल ग्रन्थ के साथ टीका को भी आधार बनाया है। इससे पाठकों को विषय को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है।

अनुवाद सहज और सुगम है और सीधा मूल विषय को स्पर्श करता है वस्तुतः यह पूज्या साध्वीजी का जैन विधा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है और इस हेतु वे हम सभी के साधुवाद की पात्र हैं।

अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ और प्रवचनसारोद्धार

अङ्गुलसप्तति	२	प्रवचनसारोद्धार	१३८९
अङ्गुलसप्तति	४	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
अङ्गुलसप्तति	५	प्रवचनसारोद्धार	१३९५
आचारांगनिर्युक्ति	३९	प्रवचनसारोद्धार	९२५
आराहणापडाया (प्रा.)	१०	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (प्रा.)	११	प्रवचनसारोद्धार	८७६
आराहणापडाया (प्रा.)	१२	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (प्रा.)	३३	प्रवचनसारोद्धार	६२९
आराहणापडाया (प्रा.)	१७६	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (प्रा.)	१८०	प्रवचनसारोद्धार	२६८
आराहणापडाया (प्रा.)	५०४	प्रवचनसारोद्धार	१२९
आराहणापडाया (प्रा.)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	५६१
आराहणापडाया (प्रा.)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	१२५६
आराहणापडाया (प्रा.)	६७१	प्रवचनसारोद्धार	६८५
आराहणापडाया (प्रा.)	६७२	प्रवचनसारोद्धार	६८६
आराहणापडाया (प्रा.)	६८६	प्रवचनसारोद्धार	१२०७
आराहणापडाया (प्रा.)	६८७	प्रवचनसारोद्धार	१२०८
आराहणापडाया (प्रा.)	७१४	प्रवचनसारोद्धार	६४१
आराहणापडाया (प्रा.)	७१५	प्रवचनसारोद्धार	६४२
आराहणापडाया (प्रा.)	७१७	प्रवचनसारोद्धार	६४४
आराहणापडाया (प्रा.)	७१९	प्रवचनसारोद्धार	६४६
आराहणापडाया (प्रा.)	७४६	प्रवचनसारोद्धार	६३६
आराहणापडाया (प्रा.)	७४७	प्रवचनसारोद्धार	६३७
आराहणापडाया (प्रा.)	७४८	प्रवचनसारोद्धार	६३८
आराहणापडाया (प्रा.)	७४९	प्रवचनसारोद्धार	६३९
आराहणापडाया (वीरभद्र)	८९	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	९०	प्रवचनसारोद्धार	२६८

* इस सम्बन्ध में हमारा आधार मुनि पद्मसेनविजयजी द्वारा सम्पादित एवं भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति पिण्डवाडा द्वारा प्रकाशित 'प्रवचन-सारोद्धार खण्ड १-२' एवं डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय का आलेख 'प्रकीर्णक एवं प्रवचनसारोद्धार' रहे हैं।

आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५५	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५७	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	५४३	प्रवचनसारोद्धार	५५६
आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२	प्रवचनसारोद्धार	९८
आवश्यकनिर्युक्ति	११९८	प्रवचनसारोद्धार	१२४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३१	प्रवचनसारोद्धार	१८३
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२	प्रवचनसारोद्धार	१८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९	प्रवचनसारोद्धार	२०३
आवश्यकनिर्युक्ति	१६००	प्रवचनसारोद्धार	२०४
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१	प्रवचनसारोद्धार	२०५
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२	प्रवचनसारोद्धार	२०६
आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६	प्रवचनसारोद्धार	२४७
आवश्यकनिर्युक्ति	१७९	प्रवचनसारोद्धार	३१०
आवश्यकनिर्युक्ति	१८०	प्रवचनसारोद्धार	३११
आवश्यकनिर्युक्ति	१८१	प्रवचनसारोद्धार	३१२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८५	प्रवचनसारोद्धार	३२०
आवश्यकनिर्युक्ति	३८६	प्रवचनसारोद्धार	३२१
आवश्यकनिर्युक्ति	३८७	प्रवचनसारोद्धार	३२२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८८	प्रवचनसारोद्धार	३२३
आवश्यकनिर्युक्ति	३८९	प्रवचनसारोद्धार	३२४
आवश्यकनिर्युक्ति	२६६	प्रवचनसारोद्धार	३२९
आवश्यकनिर्युक्ति	२६७	प्रवचनसारोद्धार	३२८
आवश्यकनिर्युक्ति	२७६	प्रवचनसारोद्धार	३८१
आवश्यकनिर्युक्ति	३७७	प्रवचनसारोद्धार	३८२
आवश्यकनिर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	३८३
आवश्यकनिर्युक्ति	२२५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
आवश्यकनिर्युक्ति	३०३	प्रवचनसारोद्धार	३८५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०४	प्रवचनसारोद्धार	३८६
आवश्यकनिर्युक्ति	३०५	प्रवचनसारोद्धार	३८७
आवश्यकनिर्युक्ति	३०८	प्रवचनसारोद्धार	३८८
आवश्यकनिर्युक्ति	३०९	प्रवचनसारोद्धार	३८९
आवश्यकनिर्युक्ति	३१०	प्रवचनसारोद्धार	३९०

आवश्यकनिर्युक्ति	२२८	प्रवचनसारोद्धार	४५४
आवश्यकनिर्युक्ति	२५५	प्रवचनसारोद्धार	४५५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०६	प्रवचनसारोद्धार	४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७०	प्रवचनसारोद्धार	४८२
आवश्यकनिर्युक्ति	९६९	प्रवचनसारोद्धार	४८३
आवश्यकनिर्युक्ति	९६७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
आवश्यकनिर्युक्ति	९६५	प्रवचनसारोद्धार	४८५
आवश्यकनिर्युक्ति	९५९	प्रवचनसारोद्धार	४८६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७१	प्रवचनसारोद्धार	४८७
आवश्यकनिर्युक्ति	९७२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
आवश्यकनिर्युक्ति	९७३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
आवश्यकनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	६९४
आवश्यकनिर्युक्ति	११६	प्रवचनसारोद्धार	७००
आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८	प्रवचनसारोद्धार	७५०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७६०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६७	प्रवचनसारोद्धार	७६१
आवश्यकनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	७६२
आवश्यकनिर्युक्ति	६८२	प्रवचनसारोद्धार	७६३
आवश्यकनिर्युक्ति	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७६४
आवश्यकनिर्युक्ति	६९६	प्रवचनसारोद्धार	७६७
आवश्यकनिर्युक्ति	११७२	प्रवचनसारोद्धार	७७८
आवश्यकनिर्युक्ति	८५७	प्रवचनसारोद्धार	८३७
आवश्यकनिर्युक्ति	८५८	प्रवचनसारोद्धार	८३८
आवश्यकनिर्युक्ति	७५४	प्रवचनसारोद्धार	८४७
आवश्यकनिर्युक्ति	७५९	प्रवचनसारोद्धार	८४८
आवश्यकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
आवश्यकनिर्युक्ति	२१४	प्रवचनसारोद्धार	१४४८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३१	प्रवचनसारोद्धार	१४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३२	प्रवचनसारोद्धार	१४५७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३४	प्रवचनसारोद्धार	१४५८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३५	प्रवचनसारोद्धार	१४५९

आवश्यकनिर्युक्ति	१३३७	प्रवचनसारोद्धार	१४६०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३८	प्रवचनसारोद्धार	१४६१
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४२	प्रवचनसारोद्धार	१४६२
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४४	प्रवचनसारोद्धार	१४६३
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७	प्रवचनसारोद्धार	१४६४
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०	प्रवचनसारोद्धार	१४६५
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१	प्रवचनसारोद्धार	१४६६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२	प्रवचनसारोद्धार	१४६७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५	प्रवचनसारोद्धार	१४७०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८	प्रवचनसारोद्धार	१४७१
आवश्यकभाष्यम्	४१	प्रवचनसारोद्धार	१२११
आवश्यकभाष्यम्	४२	प्रवचनसारोद्धार	१२१२
आवश्यकभाष्यम्	४३	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
आवश्यकभाष्यम्	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१४५४
आवश्यकभाष्यम्	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१४५५
आवश्यकभाष्यम्	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१४६८
आवश्यकभाष्यम्	२२०	प्रवचनसारोद्धार	१४६९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	८२	प्रवचनसारोद्धार	६९१
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२	प्रवचनसारोद्धार	७६०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१२	प्रवचनसारोद्धार	१००६
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१३	प्रवचनसारोद्धार	१००७
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१५	प्रवचनसारोद्धार	१००८
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१००९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१०१०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१०११
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२१	प्रवचनसारोद्धार	१०१२
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२२	प्रवचनसारोद्धार	१०१४
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२३	प्रवचनसारोद्धार	१०१५
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	१०१६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२४/७	प्रवचनसारोद्धार	७७१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१६	प्रवचनसारोद्धार	९५०

उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१८	प्रवचनसारोद्धार	९५१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१९	प्रवचनसारोद्धार	९५२
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२०	प्रवचनसारोद्धार	९५३
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२१	प्रवचनसारोद्धार	९५४
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२२	प्रवचनसारोद्धार	९५५
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२३	प्रवचनसारोद्धार	९५६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२४	प्रवचनसारोद्धार	९५७
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२५	प्रवचनसारोद्धार	९५८
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२६	प्रवचनसारोद्धार	९५९
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२७	प्रवचनसारोद्धार	९६०
उपदेशपदम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
ओघनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	४९१
ओघनिर्युक्ति	६६९	प्रवचनसारोद्धार	४९२
ओघनिर्युक्ति	७०३	प्रवचनसारोद्धार	५०६
ओघनिर्युक्ति	७०५	प्रवचनसारोद्धार	५०७
ओघनिर्युक्ति	७०८	प्रवचनसारोद्धार	५०८
ओघनिर्युक्ति	७११	प्रवचनसारोद्धार	५०९
ओघनिर्युक्ति	७१३	प्रवचनसारोद्धार	५१०
ओघनिर्युक्ति	७१४	प्रवचनसारोद्धार	५११
ओघनिर्युक्ति	७२१	प्रवचनसारोद्धार	५१२
ओघनिर्युक्ति	७२३	प्रवचनसारोद्धार	५१३
ओघनिर्युक्ति	७१०	प्रवचनसारोद्धार	५१४
ओघनिर्युक्ति	७१२	प्रवचनसारोद्धार	५१५
ओघनिर्युक्ति	६९१	प्रवचनसारोद्धार	५१६
ओघनिर्युक्ति	७०६	प्रवचनसारोद्धार	५१७
ओघनिर्युक्ति	७२२	प्रवचनसारोद्धार	५१८
ओघनिर्युक्ति	६७६	प्रवचनसारोद्धार	५२९
ओघनिर्युक्ति	६७७	प्रवचनसारोद्धार	५३०
ओघनिर्युक्ति	७३०	प्रवचनसारोद्धार	६७०
ओघनिर्युक्ति	३१३	प्रवचनसारोद्धार	७०९
ओघनिर्युक्ति	३१४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
ओघनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	७७०

ओघनिर्युक्ति	३१६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
ओघनिर्युक्ति	३१७	प्रवचनसारोद्धार	७८९
ओघनिर्युक्ति	६६०	प्रवचनसारोद्धार	८६१
ओघनिर्युक्ति	३५१	प्रवचनसारोद्धार	८६४
ओघनिर्युक्ति	३५२	प्रवचनसारोद्धार	८६५
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३	प्रवचनसारोद्धार	५३१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४	प्रवचनसारोद्धार	५३२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५	प्रवचनसारोद्धार	५३३
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६	प्रवचनसारोद्धार	५३४
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७	प्रवचनसारोद्धार	५३५
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८	प्रवचनसारोद्धार	५३६
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९	प्रवचनसारोद्धार	५३७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०	प्रवचनसारोद्धार	५३८
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२	प्रवचनसारोद्धार	५५१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३	प्रवचनसारोद्धार	५६२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४	प्रवचनसारोद्धार	७८७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५	प्रवचनसारोद्धार	७८८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५	प्रवचनसारोद्धार	१२४१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७	प्रवचनसारोद्धार	१२५१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१	प्रवचनसारोद्धार	१२६२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५	प्रवचनसारोद्धार	१२६६
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६	प्रवचनसारोद्धार	१२६७
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७	प्रवचनसारोद्धार	१२६८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८	प्रवचनसारोद्धार	१२६९
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७०
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८०	प्रवचनसारोद्धार	१२७१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१	प्रवचनसारोद्धार	१२७२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२	प्रवचनसारोद्धार	१२७३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७६

कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३	प्रवचनसारोद्धार	१३००
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६	प्रवचनसारोद्धार	१३०२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४	प्रवचनसारोद्धार	१३०५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
गच्छायार पइण्णयं	५९	प्रवचनसारोद्धार	७३७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	१८०	प्रवचनसारोद्धार	६६
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८	प्रवचनसारोद्धार	२४७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०	प्रवचनसारोद्धार	२४९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१	प्रवचनसारोद्धार	२५०
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२	प्रवचनसारोद्धार	२५१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३	प्रवचनसारोद्धार	२५२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४	प्रवचनसारोद्धार	२५३
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५	प्रवचनसारोद्धार	२५४
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६	प्रवचनसारोद्धार	२५५
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७	प्रवचनसारोद्धार	२५६
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९	प्रवचनसारोद्धार	२५७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०	प्रवचनसारोद्धार	२५८
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१	प्रवचनसारोद्धार	२५९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२	प्रवचनसारोद्धार	२६०
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९३	प्रवचनसारोद्धार	२६१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४	प्रवचनसारोद्धार	२६२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	६३	प्रवचनसारोद्धार	४३२
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार	२/१९	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जीवसमास	४०	प्रवचनसारोद्धार	९६३
जीवसमास	४१	प्रवचनसारोद्धार	९६४
जीवसमास	४२	प्रवचनसारोद्धार	९६५
जीवसमास	४३	प्रवचनसारोद्धार	९६६
जीवसमास	४४	प्रवचनसारोद्धार	९६७
जीवसमास	११७	प्रवचनसारोद्धार	१०१८
जीवसमास	११८	प्रवचनसारोद्धार	१०१९
जीवसमास	११९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
जीवसमास	१२०	प्रवचनसारोद्धार	१०२१

जीवसमास	१२१	प्रवचनसारोद्धार	१०२२
जीवसमास	१२२	प्रवचनसारोद्धार	१०२३
जीवसमास	१२५	प्रवचनसारोद्धार	१०२४
जीवसमास	१३६	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
जीवसमास	१३१	प्रवचनसारोद्धार	१०२६
जीवसमास	१२३	प्रवचनसारोद्धार	१०२७
जीवसमास	१२४	प्रवचनसारोद्धार	१०२८
जीवसमास	१२७	प्रवचनसारोद्धार	१०२९
जीवसमास	१३०	प्रवचनसारोद्धार	१०३०
जीवसमास	१३२	प्रवचनसारोद्धार	१०३१
जीवसमास	१३३	प्रवचनसारोद्धार	१०३२
जीवसमास	१९	प्रवचनसारोद्धार	११३३
जीवसमास	२०	प्रवचनसारोद्धार	११३४
जीवसमास	६	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
जीवसमास	१९२	प्रवचनसारोद्धार	१३११
जीवसमास	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
जीवसमास	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३१९
जीवसमास	९८	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जीवसमास	१०३	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
जोइसकरंडग पइण्णयं*	८३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जोइसकरंडग पइण्णयं*	८४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जोइसकरंडग पइण्णयं*	९५	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
तित्थोगालीपइण्णयं	१२	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
तित्थोगालीपइण्णयं	१८	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णयं	२१	प्रवचनसारोद्धार	१०३६
तित्थोगालीपइण्णयं	२२	प्रवचनसारोद्धार	१०३७
तित्थोगालीपइण्णयं	४६	प्रवचनसारोद्धार	१०६७

* डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय द्वारा निर्दिष्ट गाथाओं के क्रमांक मुनि पद्मसेन विजयजी द्वारा दिये गये गाथा क्रमांक से भिन्न है। हो सकता है यह भिन्नता संस्करण भेद के कारण हो इनमें दस गाथाओं का अन्तर है। पद्मसेन विजयजी के संस्करण में इनका क्रमांक क्रमशः ७३, ७४ एवं ८५ है।

तित्थोगालीपइण्णयं	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०६८
तित्थोगालीपइण्णयं	४९	प्रवचनसारोद्धार	१०७०
तित्थोगालीपइण्णयं	५४	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णयं	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३८७
तित्थोगालीपइण्णयं	३६०	प्रवचनसारोद्धार	४०६
तित्थोगालीपइण्णयं	३९५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
तित्थोगालीपइण्णयं	४००	प्रवचनसारोद्धार	४५४
तित्थोगालीपइण्णयं	५६७	प्रवचनसारोद्धार	३२५
तित्थोगालीपइण्णयं	५६८	प्रवचनसारोद्धार	३२६
तित्थोगालीपइण्णयं	५७०	प्रवचनसारोद्धार	१२०९
तित्थोगालीपइण्णयं	५७१	प्रवचनसारोद्धार	१२१०
तित्थोगालीपइण्णयं	६१०	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
तित्थोगालीपइण्णयं	६९९	प्रवचनसारोद्धार	६९३
तित्थोगालीपइण्णयं	८८८	प्रवचनसारोद्धार	८८५
तित्थोगालीपइण्णयं	८८९	प्रवचनसारोद्धार	८८६
तित्थोगालीपइण्णयं	११३३	प्रवचनसारोद्धार	१२२०
तित्थोगालीपइण्णयं	११३६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
तित्थोगालीपइण्णयं	११४१	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
तित्थोगालीपइण्णयं	११४२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
तित्थोगालीपइण्णयं	११७०	प्रवचनसारोद्धार	१०३५
तित्थोगालीपइण्णयं	१२०७	प्रवचनसारोद्धार	५५३
तित्थोगालीपइण्णयं	१२२०	प्रवचनसारोद्धार	९३५
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३७	प्रवचनसारोद्धार	४८६
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३८	प्रवचनसारोद्धार	४८२
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३९	प्रवचनसारोद्धार	४८४
तित्थोगालीपइण्णयं	१२४२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
तित्थोगालीपइण्णयं	१२४३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
दशवैकालिकानिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	२७०
दशवैकालिकानिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	२७१
दशवैकालिकानिर्युक्ति	३२५	प्रवचनसारोद्धार	५४९
दशवैकालिकानिर्युक्ति	३२६	प्रवचनसारोद्धार	५५०
दशवैकालिकानिर्युक्ति	४६	प्रवचनसारोद्धार	५५५

दशवैकालिकानिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	५५९
दशवैकालिकानिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	५६०
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२७३	प्रवचनसारोद्धार	८९१
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२७४	प्रवचनसारोद्धार	८९२
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२७५	प्रवचनसारोद्धार	८९३
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२७६	प्रवचनसारोद्धार	८९४
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२७७	प्रवचनसारोद्धार	८९५
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२५२	प्रवचनसारोद्धार	१००४
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२५३	प्रवचनसारोद्धार	१००५
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२५९	प्रवचनसारोद्धार	१०३२
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२६०	प्रवचनसारोद्धार	१०६३
दशवैकालिकानिर्युक्ति	२६१	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
देविदत्थओ पइण्णयं	२६२	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
देविदत्थओ पइण्णयं	६७	प्रवचनसारोद्धार	११३०
देविदत्थओ पइण्णयं	८१	प्रवचनसारोद्धार	११३३
देविदत्थओ पइण्णयं	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११३७
देविदत्थओ पइण्णयं	१९२	प्रवचनसारोद्धार	११६०
देविदत्थओ पइण्णयं	२८६	प्रवचनसारोद्धार	४८६
देविदत्थओ पइण्णयं	२८७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
देविदत्थओ पइण्णयं	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१५४०
धर्मरत्नप्रकरण	५	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
धर्मरत्नप्रकरण	६	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
धर्मरत्नप्रकरण	७	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
धर्मसंग्रहणी	६१८	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
धर्मसंग्रहणी	६१९	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
धर्मसंग्रहणी	६२०	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
निशीथभाष्यम्	१३९०	प्रवचनसारोद्धार	४९३
निशीथभाष्यम्	१३९१	प्रवचनसारोद्धार	४९४
निशीथभाष्यम्	१३९२	प्रवचनसारोद्धार	४९७
निशीथभाष्यम्	४००३	प्रवचनसारोद्धार	६७६
निशीथभाष्यम्	४००१	प्रवचनसारोद्धार	६७७
निशीथभाष्यम्	४००२	प्रवचनसारोद्धार	६७८

निशीथभाष्यम्		३५०६	प्रवचनसारोद्धार	७९०
निशीथभाष्यम्		३५०७	प्रवचनसारोद्धार	७९१
निशीथभाष्यम्		३५६१	प्रवचनसारोद्धार	७९३
निशीथभाष्यम्		३७०९	प्रवचनसारोद्धार	७९५
निशीथभाष्यम्		३७१०	प्रवचनसारोद्धार	७९६
निशीथभाष्यम्		११४४	प्रवचनसारोद्धार	८००
निशीथभाष्यम्		११४५	प्रवचनसारोद्धार	८०१
निशीथभाष्यम्		११४९	प्रवचनसारोद्धार	८०२
निशीथभाष्यम्		११४८	प्रवचनसारोद्धार	८०३
निशीथभाष्यम्		११५८	प्रवचनसारोद्धार	८०४
निशीथभाष्यम्		११५९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
निशीथभाष्यम्		११६०	प्रवचनसारोद्धार	८०६
निशीथभाष्यम्		११६१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
निशीथभाष्यम्		११६२	प्रवचनसारोद्धार	८०८
निशीथभाष्यम्		५०८७	प्रवचनसारोद्धार	८५०
निशीथभाष्यम्		५०८६	प्रवचनसारोद्धार	८५१
निशीथभाष्यम्		५०८८	प्रवचनसारोद्धार	८५२
निशीथभाष्यम्		५०८९	प्रवचनसारोद्धार	८५३
निशीथभाष्यम्		४८३३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
निशीथभाष्यम्		४८३४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
निशीथभाष्यम्		४८३५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
पञ्चकल्पभाष्यम्		२००	प्रवचनसारोद्धार	७९०
पञ्चकल्पभाष्यम्		२०१	प्रवचनसारोद्धार	७९१
पञ्चसंग्रह	द्वार	३/११	प्रवचनसारोद्धार	१२७४
पञ्चसंग्रह	द्वार	३/४	प्रवचनसारोद्धार	१२५४
पञ्चसंग्रह	द्वार	३/२५	प्रवचनसारोद्धार	१२९८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		३७१	प्रवचनसारोद्धार	२१७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		७७५	प्रवचनसारोद्धार	४९४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		८२७	प्रवचनसारोद्धार	५३३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		१५३८	प्रवचनसारोद्धार	६११
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		१५३९	प्रवचनसारोद्धार	६१२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्		१५४०	प्रवचनसारोद्धार	६१३

पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४१	प्रवचनसारोद्धार	६१४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४७	प्रवचनसारोद्धार	६२३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४८	प्रवचनसारोद्धार	६२४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४९	प्रवचनसारोद्धार	६२५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५०	प्रवचनसारोद्धार	६२६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५१	प्रवचनसारोद्धार	६२७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५२	प्रवचनसारोद्धार	६२८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९	प्रवचनसारोद्धार	७०९
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००	प्रवचनसारोद्धार	७१०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००	प्रवचनसारोद्धार	७४५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	२३०	प्रवचनसारोद्धार	७६८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९५	प्रवचनसारोद्धार	७७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९६	प्रवचनसारोद्धार	७७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	७८०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९	प्रवचनसारोद्धार	७८१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०	प्रवचनसारोद्धार	७८२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७	प्रवचनसारोद्धार	८७१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८	प्रवचनसारोद्धार	८७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०९	प्रवचनसारोद्धार	८७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६	प्रवचनसारोद्धार	८७४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४	प्रवचनसारोद्धार	८७५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५	प्रवचनसारोद्धार	८७६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६	प्रवचनसारोद्धार	८८५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२७	प्रवचनसारोद्धार	८८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७	प्रवचनसारोद्धार	७२
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८	प्रवचनसारोद्धार	७३
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९	प्रवचनसारोद्धार	७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०	प्रवचनसारोद्धार	७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१	प्रवचनसारोद्धार	७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८	प्रवचनसारोद्धार	२०३
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९	प्रवचनसारोद्धार	२०४
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०	प्रवचनसारोद्धार	२०५

पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७	प्रवचनसारोद्धार	२०७
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२८	प्रवचनसारोद्धार	२०८
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९	प्रवचनसारोद्धार	२०९
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०	प्रवचनसारोद्धार	२१०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१३/३	प्रवचनसारोद्धार	५६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/३	प्रवचनसारोद्धार	५७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/४	प्रवचनसारोद्धार	५७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/५	प्रवचनसारोद्धार	५७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/६	प्रवचनसारोद्धार	५७७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७	प्रवचनसारोद्धार	५७८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६	प्रवचनसारोद्धार	६४७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०	प्रवचनसारोद्धार	६५०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८	प्रवचनसारोद्धार	६५१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२	प्रवचनसारोद्धार	६५२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६	प्रवचनसारोद्धार	६५३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२	प्रवचनसारोद्धार	६५४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७	प्रवचनसारोद्धार	६५६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८	प्रवचनसारोद्धार	६५७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९	प्रवचनसारोद्धार	६५८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१६/२	प्रवचनसारोद्धार	७४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२	प्रवचनसारोद्धार	७६०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१०	प्रवचनसारोद्धार	७६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१४	प्रवचनसारोद्धार	७६४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२	प्रवचनसारोद्धार	८३९
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३	प्रवचनसारोद्धार	८४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४	प्रवचनसारोद्धार	८४१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५	प्रवचनसारोद्धार	८४२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६	प्रवचनसारोद्धार	८४३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७	प्रवचनसारोद्धार	८४४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८	प्रवचनसारोद्धार	८४५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९	प्रवचनसारोद्धार	८४६

पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१	प्रवचनसारोद्धार	८६२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१७	प्रवचनसारोद्धार	९८५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१९	प्रवचनसारोद्धार	९८७
पर्यन्ताराधना	८	प्रवचनसारोद्धार	९७६
पर्यन्ताराधना	९	प्रवचनसारोद्धार	८७७
पर्यन्ताराधना	१८	प्रवचनसारोद्धार	९२७
पर्यन्ताराधना	२६०	प्रवचनसारोद्धार	६४१
पिण्डविशुद्धि	३	प्रवचनसारोद्धार	५६४
पिण्डविशुद्धि	४	प्रवचनसारोद्धार	५६५
पिण्डविशुद्धि	४०८	प्रवचनसारोद्धार	५६६
पिण्डविशुद्धि	४०९	प्रवचनसारोद्धार	५६७
पिण्डविशुद्धि	५२०	प्रवचनसारोद्धार	५६८
पिण्डविशुद्धि	६६२	प्रवचनसारोद्धार	७३४
पिण्डविशुद्धि	६६३	प्रवचनसारोद्धार	७३५
पिण्डविशुद्धि	६६४	प्रवचनसारोद्धार	७३६
पिण्डविशुद्धि	६६५	प्रवचनसारोद्धार	७३७
पिण्डविशुद्धि	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७३८
पिण्डविशुद्धि	२६	प्रवचनसारोद्धार	८६४
पिण्डविशुद्धि	२७	प्रवचनसारोद्धार	८६५
पिण्डविशुद्धि	६४२	प्रवचनसारोद्धार	८६६
पिण्डविशुद्धि	६५०	प्रवचनसारोद्धार	८६७
पिण्डविशुद्धि	६५१	प्रवचनसारोद्धार	८६८
पिण्डविशुद्धि	६५२	प्रवचनसारोद्धार	८६९
पिण्डविशुद्धि	६५३	प्रवचनसारोद्धार	८७०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद११/सू. ८६२गा. १९४	प्रवचनसारोद्धार	८९१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद११/सू. ८६३ गा. १९५	प्रवचनसारोद्धार	८९२
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ८६६ गा. १९६	प्रवचनसारोद्धार	८९५
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १३१	प्रवचनसारोद्धार	९२८
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. ११९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १२१	प्रवचनसारोद्धार	९५१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १२२	प्रवचनसारोद्धार	९५२

प्रज्ञापनासूत्रम् पद२/सू. १९४ गा. १५१		प्रवचनसारोद्धार	११३१
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू. १०२ गा. ११२		प्रवचनसारोद्धार	१५८७
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू.१०२ गा. ११३		प्रवचनसारोद्धार	१५८८
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू. १०२ गा. ११४		प्रवचनसारोद्धार	१५८९
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू. १०२ गा. ११५		प्रवचनसारोद्धार	१५९०
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू. १०२ गा. ११६		प्रवचनसारोद्धार	१५९१
प्रज्ञापनासूत्रम् पद१/सू. १०२ गा. ११७		प्रवचनसारोद्धार	१५९२
बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	४९८
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९	प्रवचनसारोद्धार	६१४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१	प्रवचनसारोद्धार	६२४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२	प्रवचनसारोद्धार	६२५
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४३	प्रवचनसारोद्धार	६२६
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४४	प्रवचनसारोद्धार	६२७
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५	प्रवचनसारोद्धार	६२८
बृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१	प्रवचनसारोद्धार	६५०
बृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५	प्रवचनसारोद्धार	६६३
बृहत्कल्पभाष्यम्	४४३	प्रवचनसारोद्धार	७०९
बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७७०
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६	प्रवचनसारोद्धार	७७५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७	प्रवचनसारोद्धार	७७६
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६	प्रवचनसारोद्धार	७८३
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७	प्रवचनसारोद्धार	७८४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८	प्रवचनसारोद्धार	७८५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५७	प्रवचनसारोद्धार	७८७
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८	प्रवचनसारोद्धार	७८८
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५९	प्रवचनसारोद्धार	७८९
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०	प्रवचनसारोद्धार	७९७
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१	प्रवचनसारोद्धार	७९८
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२	प्रवचनसारोद्धार	७९९
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५	प्रवचनसारोद्धार	८००

बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६	प्रवचनसारोद्धार	८०१
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०	प्रवचनसारोद्धार	८०२
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९	प्रवचनसारोद्धार	८०३
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३	प्रवचनसारोद्धार	८०८
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२	प्रवचनसारोद्धार	८५०
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१	प्रवचनसारोद्धार	८५१
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३३	प्रवचनसारोद्धार	८५२
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४	प्रवचनसारोद्धार	८५३
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८२	प्रवचनसारोद्धार	८७१
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८३	प्रवचनसारोद्धार	८७२
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८४	प्रवचनसारोद्धार	८७३
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४	प्रवचनसारोद्धार	८७९
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५	प्रवचनसारोद्धार	८८०
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
बृहत्संग्रहणी	३५१	प्रवचनसारोद्धार	९६८
बृहत्संग्रहणी	३५२	प्रवचनसारोद्धार	९६९
बृहत्संग्रहणी	२३९	प्रवचनसारोद्धार	१०७२
बृहत्संग्रहणी	२५५	प्रवचनसारोद्धार	१०७३
बृहत्संग्रहणी	२३३	प्रवचनसारोद्धार	१०७५
बृहत्संग्रहणी	२३४	प्रवचनसारोद्धार	१०७६
बृहत्संग्रहणी	२७९	प्रवचनसारोद्धार	१०७९
बृहत्संग्रहणी	२८०	प्रवचनसारोद्धार	१०८०
बृहत्संग्रहणी	२८१	प्रवचनसारोद्धार	१०८१
बृहत्संग्रहणी	२८२	प्रवचनसारोद्धार	१०८२
बृहत्संग्रहणी	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१०८३
बृहत्संग्रहणी	२८४	प्रवचनसारोद्धार	१०९१
बृहत्संग्रहणी	२८५	प्रवचनसारोद्धार	१०९२
बृहत्संग्रहणी	२८६	प्रवचनसारोद्धार	१०९३

बृहत्संग्रहणी	३३३	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
बृहत्संग्रहणी	३३४	प्रवचनसारोद्धार	१०९५
बृहत्संग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१०९६
बृहत्संग्रहणी	३१३	प्रवचनसारोद्धार	१०९७
बृहत्संग्रहणी	३१४	प्रवचनसारोद्धार	१०९८
बृहत्संग्रहणी	३०७	प्रवचनसारोद्धार	१०९९
बृहत्संग्रहणी	३११	प्रवचनसारोद्धार	११०२
बृहत्संग्रहणी	३१०	प्रवचनसारोद्धार	११०३
बृहत्संग्रहणी	३०८	प्रवचनसारोद्धार	११०४
बृहत्संग्रहणी	३४२	प्रवचनसारोद्धार	१११०
बृहत्संग्रहणी	१७०	प्रवचनसारोद्धार	१११७
बृहत्संग्रहणी	१६९	प्रवचनसारोद्धार	१११८
बृहत्संग्रहणी	१७१	प्रवचनसारोद्धार	१११९
बृहत्संग्रहणी	१७२	प्रवचनसारोद्धार	११२०
बृहत्संग्रहणी	३३७	प्रवचनसारोद्धार	११२४
बृहत्संग्रहणी	३३८	प्रवचनसारोद्धार	११२५
बृहत्संग्रहणी	३४०	प्रवचनसारोद्धार	११२६
बृहत्संग्रहणी	३४१	प्रवचनसारोद्धार	११२७
बृहत्संग्रहणी	४२	प्रवचनसारोद्धार	११२९
बृहत्संग्रहणी	५८	प्रवचनसारोद्धार	११३०
बृहत्संग्रहणी	५	प्रवचनसारोद्धार	११३८
बृहत्संग्रहणी	६	प्रवचनसारोद्धार	११३९
बृहत्संग्रहणी	४	प्रवचनसारोद्धार	११४०
बृहत्संग्रहणी	१२	प्रवचनसारोद्धार	११४३
बृहत्संग्रहणी	१७	प्रवचनसारोद्धार	११४६
बृहत्संग्रहणी	३५	प्रवचनसारोद्धार	११४७
बृहत्संग्रहणी	३६	प्रवचनसारोद्धार	११४८
बृहत्संग्रहणी	३७	प्रवचनसारोद्धार	११४९
बृहत्संग्रहणी	५५	प्रवचनसारोद्धार	११५०
बृहत्संग्रहणी	११७	प्रवचनसारोद्धार	११५१
बृहत्संग्रहणी	११८	प्रवचनसारोद्धार	११५२
बृहत्संग्रहणी	११९	प्रवचनसारोद्धार	११५३

बृहत्संग्रहणी	१२०	प्रवचनसारोद्धार	११५४
बृहत्संग्रहणी	१४३	प्रवचनसारोद्धार	११५५
बृहत्संग्रहणी	१४४	प्रवचनसारोद्धार	११५६
बृहत्संग्रहणी	१४८	प्रवचनसारोद्धार	११५७
बृहत्संग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११५८
बृहत्संग्रहणी	२२०	प्रवचनसारोद्धार	११६१
बृहत्संग्रहणी	२२१	प्रवचनसारोद्धार	११६२
बृहत्संग्रहणी	२२२	प्रवचनसारोद्धार	११६३
बृहत्संग्रहणी	२२३	प्रवचनसारोद्धार	११६४
बृहत्संग्रहणी	२२४	प्रवचनसारोद्धार	११६५
बृहत्संग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११६७
बृहत्संग्रहणी	१५१	प्रवचनसारोद्धार	११६८
बृहत्संग्रहणी	१५२	प्रवचनसारोद्धार	११६९
बृहत्संग्रहणी	१५३	प्रवचनसारोद्धार	११७०
वृहत्संग्रहणी	१५४	प्रवचनसारोद्धार	११७१
बृहत्संग्रहणी	१५५	प्रवचनसारोद्धार	११७२
बृहत्संग्रहणी	१५६	प्रवचनसारोद्धार	११७३
बृहत्संग्रहणी	१८०	प्रवचनसारोद्धार	११७४
बृहत्संग्रहणी	१५७	प्रवचनसारोद्धार	११७७
बृहत्संग्रहणी	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११७८
बृहत्संग्रहणी	१९८	प्रवचनसारोद्धार	११८०
बृहत्संग्रहणी	१९९	प्रवचनसारोद्धार	११८१
बृहत्संग्रहणी	२००	प्रवचनसारोद्धार	११८२
बृहत्संग्रहणी	२०१	प्रवचनसारोद्धार	११८३
बृहत्संग्रहणी	२०२	प्रवचनसारोद्धार	११८४
बृहत्संग्रहणी	२१४	प्रवचनसारोद्धार	११८५
बृहत्संग्रहणी	२१५	प्रवचनसारोद्धार	११८७
बृहत्संग्रहणी	३०३	प्रवचनसारोद्धार	१२१५
बृहत्संग्रहणी	३०४	प्रवचनसारोद्धार	१२१६
बृहत्संग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१२१७
बृहत्संग्रहणी	३६३	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
बृहत्संग्रहणी	१८१	प्रवचनसारोद्धार	१४३९

बृहत्संग्रहणी	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४९
बृहत्संग्रहणी	२५/७/८०१	प्रवचनसारोद्धार	७६०
भगवतीसूत्रम्	३/७/४	प्रवचनसारोद्धार	१०८५
भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४३
विशेषणवती	१	प्रवचनसारोद्धार	१३९६
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ.१ गा.५३	प्रवचनसारोद्धार	७५०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ.२ गा.२०	प्रवचनसारोद्धार	७७०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ.३ गा.१५	प्रवचनसारोद्धार	७८०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ.३ गा. १६	प्रवचनसारोद्धार	७८१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२	प्रवचनसारोद्धार	१३२३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३	प्रवचनसारोद्धार	१३२४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	५	प्रवचनसारोद्धार	१३२५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	६	प्रवचनसारोद्धार	१३२६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	७	प्रवचनसारोद्धार	१३२७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	८	प्रवचनसारोद्धार	१३२८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	९	प्रवचनसारोद्धार	१३२९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१०	प्रवचनसारोद्धार	१३३०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	११	प्रवचनसारोद्धार	१३३१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१२	प्रवचनसारोद्धार	१३३२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१३	प्रवचनसारोद्धार	१३३३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३३४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१६	प्रवचनसारोद्धार	१३३५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१३३६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१८	प्रवचनसारोद्धार	१३३७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१९	प्रवचनसारोद्धार	१३३८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२०	प्रवचनसारोद्धार	१३३९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२१	प्रवचनसारोद्धार	१३४०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२२	प्रवचनसारोद्धार	१३४१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२३	प्रवचनसारोद्धार	१३४२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२४	प्रवचनसारोद्धार	१३४४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३४५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२६	प्रवचनसारोद्धार	१३४६

संबोधप्रकरण	२/२३०	प्रवचनसारोद्धार	५५१
संबोधप्रकरण	२/२२३	प्रवचनसारोद्धार	५५२
संबोधप्रकरण	२/६८	प्रवचनसारोद्धार	५५७
संबोधप्रकरण	२/२३१	प्रवचनसारोद्धार	५६२
संबोधप्रकरण	२/२७०	प्रवचनसारोद्धार	५६५
संबोधप्रकरण	२/२७१	प्रवचनसारोद्धार	५६६
संबोधप्रकरण	२/२७३	प्रवचनसारोद्धार	५६८
संबोधप्रकरण	२/२३४	प्रवचनसारोद्धार	६३६
संबोधप्रकरण	३/२३८	प्रवचनसारोद्धार	६४०
संबोधप्रकरण	२/२३९	प्रवचनसारोद्धार	६४१
संबोधप्रकरण	२/१६	प्रवचनसारोद्धार	६४४
संबोधप्रकरण	२/२४१	प्रवचनसारोद्धार	७१९
संबोधप्रकरण	२/२४९	प्रवचनसारोद्धार	७२८
संबोधप्रकरण	२/२७४	प्रवचनसारोद्धार	७३४
संबोधप्रकरण	२/२७७	प्रवचनसारोद्धार	७३९
संबोधप्रकरण	२/२८०	प्रवचनसारोद्धार	७४५
संबोधप्रकरण	१२/५२	प्रवचनसारोद्धार	७५४
संबोधप्रकरण	१२/५३	प्रवचनसारोद्धार	७५५
संबोधप्रकरण	१२/५४	प्रवचनसारोद्धार	७५६
संबोधप्रकरण	१२/५५	प्रवचनसारोद्धार	७५७
संबोधप्रकरण	१२/५६	प्रवचनसारोद्धार	७५८
संबोधप्रकरण	११/३८	प्रवचनसारोद्धार	८०९
संबोधप्रकरण	४/३०	प्रवचनसारोद्धार	८३६
संबोधप्रकरण	४/३२	प्रवचनसारोद्धार	८३७
संबोधप्रकरण	१२/६७	प्रवचनसारोद्धार	८५५
संबोधप्रकरण	१२/७०	प्रवचनसारोद्धार	८५८
संबोधप्रकरण	१२/७१	प्रवचनसारोद्धार	८५९
संबोधप्रकरण	२/५२	प्रवचनसारोद्धार	८९१
संबोधप्रकरण	४/६०	प्रवचनसारोद्धार	९२७
संबोधप्रकरण	४/६१	प्रवचनसारोद्धार	९२८
संबोधप्रकरण	४/६८	प्रवचनसारोद्धार	९३४
संबोधप्रकरण	४/८४	प्रवचनसारोद्धार	९४५

संबोधप्रकरण	४/८५	प्रवचनसारोद्धार	९४६
संबोधप्रकरण	४/८८	प्रवचनसारोद्धार	९४९
संबोधप्रकरण	४/८९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
संबोधप्रकरण	७/१	प्रवचनसारोद्धार	९७७
संबोधप्रकरण	६/८८	प्रवचनसारोद्धार	९८०
संबोधप्रकरण	६/८९	प्रवचनसारोद्धार	९८१
संबोधप्रकरण	६/९०	प्रवचनसारोद्धार	९८२
संबोधप्रकरण	६/९६	प्रवचनसारोद्धार	९८४
संबोधप्रकरण	६/९८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
संबोधप्रकरण	६/१०४	प्रवचनसारोद्धार	९८९
संबोधप्रकरण	६/१०३	प्रवचनसारोद्धार	९९२
संबोधप्रकरण	६/११०	प्रवचनसारोद्धार	९९३
संबोधप्रकरण	२/४५	प्रवचनसारोद्धार	१०५७
संबोधप्रकरण	२/६५	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
संबोधप्रकरण	२/६६	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
संबोधप्रकरण	२/३२	प्रवचनसारोद्धार	१२३८
संबोधप्रकरण	३/३७	प्रवचनसारोद्धार	१२४२
संबोधप्रकरण	३/३८	प्रवचनसारोद्धार	१२४३
संबोधप्रकरण	३/३९	प्रवचनसारोद्धार	१२४४
संबोधप्रकरण	२/४२	प्रवचनसारोद्धार	१२४७
संबोधप्रकरण	३/१९९	प्रवचनसारोद्धार	१३५४
संबोधप्रकरण	३/२००	प्रवचनसारोद्धार	१३५५
संबोधप्रकरण	५/६	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
संबोधप्रकरण	५/७	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
संबोधप्रकरण	५/८	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
स्थानांगसूत्रम् स्था.१० सू.७७७गा. १७५		प्रवचनसारोद्धार	८८५
स्थानांगसूत्रम् स्था.१० सू.७७७गा. १७६		प्रवचनसारोद्धार	८८६
स्थानांगसूत्रम् स्था.९/सू.६७३गा.१		प्रवचनसारोद्धार	१२१८
स्थानांगसूत्रम् स्था.९/सू.६७३गा.२		प्रवचनसारोद्धार	१२१९
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा. ३		प्रवचनसारोद्धार	१२२०

* मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित ठाणांगसुत्त में इनका गाथा क्रमांक १ से १४ न होकर गाथा क्रमांक ११७-१३० है।

स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.४	प्रवचनसारोद्धार	१२२१
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.५	प्रवचनसारोद्धार	१२२२
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.७	प्रवचनसारोद्धार	१२२४
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.८	प्रवचनसारोद्धार	१२२५
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.९	प्रवचनसारोद्धार	१२२६
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.१०	प्रवचनसारोद्धार	१२२७
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.११	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.१२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.१३	प्रवचनसारोद्धार	१२३०
स्थानांगसूत्रम् स्था.९ सू.६७३गा.१४	प्रवचनसारोद्धार	१२३१

प्रवचनसारोद्धार और अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ

प्रवचनसारोद्धार	६६	चैत्यवन्दनमहाभाष्यम्	१८०
प्रवचनसारोद्धार	७२	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७
प्रवचनसारोद्धार	७३	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८
प्रवचनसारोद्धार	७४	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९
प्रवचनसारोद्धार	७५	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०
प्रवचनसारोद्धार	७६	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१
प्रवचनसारोद्धार	९८	आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२
प्रवचनसारोद्धार	१०३	संबोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	१०६	संबोधप्रकरण	२/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२०	संबोधप्रकरण	२/१७
प्रवचनसारोद्धार	१२४	आवश्यकनिर्युक्ति	११९८
प्रवचनसारोद्धार	१२९	आराधनापताका (प्रा.)	५०४
प्रवचनसारोद्धार	१८३	आवश्यकनिर्युक्ति	३१
प्रवचनसारोद्धार	१८४	आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२
प्रवचनसारोद्धार	२०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९
प्रवचनसारोद्धार	२०३	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०४	आवश्यकनिर्युक्ति	१६००
प्रवचनसारोद्धार	२०४	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९
प्रवचनसारोद्धार	२०५	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१
प्रवचनसारोद्धार	२०५	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०
प्रवचनसारोद्धार	२०६	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२
प्रवचनसारोद्धार	२०७	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७
प्रवचनसारोद्धार	२०८	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०९	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९
प्रवचनसारोद्धार	२१०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०
प्रवचनसारोद्धार	२१७	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	३७१
प्रवचनसारोद्धार	२३८	संबोधप्रकरण	७/९२
प्रवचनसारोद्धार	२४७	आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६
प्रवचनसारोद्धार	२४७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८

प्रवचनसारोद्धार	२४९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०
प्रवचनसारोद्धार	२५०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१
प्रवचनसारोद्धार	२५१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२
प्रवचनसारोद्धार	२५२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३
प्रवचनसारोद्धार	२५३	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४
प्रवचनसारोद्धार	२५४	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५
प्रवचनसारोद्धार	२५५	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६
प्रवचनसारोद्धार	२५६	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७
प्रवचनसारोद्धार	२५७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९
प्रवचनसारोद्धार	२५८	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०
प्रवचनसारोद्धार	२५९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१
प्रवचनसारोद्धार	२६०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२
प्रवचनसारोद्धार	२६१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९३
प्रवचनसारोद्धार	२६२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४
प्रवचनसारोद्धार	२६४	संबोधप्रकरण	७/१४१
प्रवचनसारोद्धार	२६७	संबोधप्रकरण	७/१४६
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (वीरभद्र)	८९
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (प्रा.)	१७६
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (प्रा.)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (वीरभद्र)	९०
प्रवचनसारोद्धार	२६९	संबोधप्रकरण	७/१४८
प्रवचनसारोद्धार	२७०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	२७१	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	२७१	संबोधप्रकरण	६/१५०
प्रवचनसारोद्धार	२७२	संबोधप्रकरण	६/१५१
प्रवचनसारोद्धार	२७७	संबोधप्रकरण	७/३७
प्रवचनसारोद्धार	२७८	संबोधप्रकरण	७/४७
प्रवचनसारोद्धार	२८९	संबोधप्रकरण	७/४८
प्रवचनसारोद्धार	२८०	संबोधप्रकरण	७/६४
प्रवचनसारोद्धार	२८३	संबोधप्रकरण	७/१९८
प्रवचनसारोद्धार	२८६	संबोधप्रकरण	५/१३८
प्रवचनसारोद्धार	३१०	आवश्यकनिर्युक्ति	१७९

प्रवचनसारोद्धार	४४३	संबोधप्रकरण	१/३४
प्रवचनसारोद्धार	४४४	संबोधप्रकरण	१/३५
प्रवचनसारोद्धार	४४५	संबोधप्रकरण	१/३६
प्रवचनसारोद्धार	४५२	संबोधप्रकरण	१/१४
प्रवचनसारोद्धार	४५४	आवश्यकनिर्युक्ति	२२८
प्रवचनसारोद्धार	४५४	तित्थोगालीपइण्णयं	४००
प्रवचनसारोद्धार	४५५	आवश्यकनिर्युक्ति	२५५
प्रवचनसारोद्धार	४५६	आवश्यकनिर्युक्ति	३०६
प्रवचनसारोद्धार	४८२	आवश्यकनिर्युक्ति	९७०
प्रवचनसारोद्धार	४८२	तित्थोगालीपइण्णयं	१२३८
प्रवचनसारोद्धार	४८३	आवश्यकनिर्युक्ति	९६९
प्रवचनसारोद्धार	४८४	देविदत्थओ पइण्णयं	२८७
प्रवचनसारोद्धार	४८४	तित्थोगालीपइण्णयं	२३३
प्रवचनसारोद्धार	४८५	आवश्यकनिर्युक्ति	९६५
प्रवचनसारोद्धार	४८६	आवश्यकनिर्युक्ति	९५७
प्रवचनसारोद्धार	४८६	देविदत्थओ पइण्णयं	२८६
प्रवचनसारोद्धार	४८७	आवश्यकनिर्युक्ति	९७१
प्रवचनसारोद्धार	४८८	तिथ्थोगालीपइण्णयं	१२४२
प्रवचनसारोद्धार	४८८	आवश्यकनिर्युक्ति	९७२
प्रवचनसारोद्धार	४८९	आवश्यकनिर्युक्ति	९७३
प्रवचनसारोद्धार	४८९	तित्थोगालीपइण्णयं	१२४३
प्रवचनसारोद्धार	४९१	संबोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	४९१	ओघनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	४९२	ओघनिर्युक्ति	६६९
प्रवचनसारोद्धार	४९३	निशीथभाष्य	१३९०
प्रवचनसारोद्धार	४९४	निशीथभाष्य	१३९१
प्रवचनसारोद्धार	४९४	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	७७५
प्रवचनसारोद्धार	४९७	निशीथभाष्यम्	१३९२
प्रवचनसारोद्धार	४९८	बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	५०६	ओघनिर्युक्ति	७०३
प्रवचनसारोद्धार	५०७	ओघनिर्युक्ति	७०५

प्रवचनसारोद्धार	५०८	ओघनिर्युक्ति	७०८
प्रवचनसारोद्धार	५०९	ओघनिर्युक्ति	७११
प्रवचनसारोद्धार	५१०	ओघनिर्युक्ति	७१३
प्रवचनसारोद्धार	५११	ओघनिर्युक्ति	७१४
प्रवचनसारोद्धार	५१२	ओघनिर्युक्ति	७२१
प्रवचनसारोद्धार	५१३	ओघनिर्युक्ति	७२३
प्रवचनसारोद्धार	५१४	ओघनिर्युक्ति	७१०
प्रवचनसारोद्धार	५१५	ओघनिर्युक्ति	७१२
प्रवचनसारोद्धार	५१६	ओघनिर्युक्ति	६९१
प्रवचनसारोद्धार	५१७	ओघनिर्युक्ति	७०६
प्रवचनसारोद्धार	५१८	ओघनिर्युक्ति	७२२
प्रवचनसारोद्धार	५२९	ओघनिर्युक्ति	६७६
प्रवचनसारोद्धार	५३०	ओघनिर्युक्ति	६७७
प्रवचनसारोद्धार	५३१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३
प्रवचनसारोद्धार	५३२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४
प्रवचनसारोद्धार	५३३	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५
प्रवचनसारोद्धार	५३३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८२७
प्रवचनसारोद्धार	५३४	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६
प्रवचनसारोद्धार	५३५	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७
प्रवचनसारोद्धार	५३६	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८
प्रवचनसारोद्धार	५३७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९
प्रवचनसारोद्धार	५३८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०
प्रवचनसारोद्धार	५४९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२५
प्रवचनसारोद्धार	५५०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२९
प्रवचनसारोद्धार	५५१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२
प्रवचनसारोद्धार	५५१	संबोधप्रकरण	२/२३०
प्रवचनसारोद्धार	५५२	संबोधप्रकरण	२/२२३
प्रवचनसारोद्धार	५५३	तित्थोगालीपइण्णयं	१२०७
प्रवचनसारोद्धार	५५५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४६
प्रवचनसारोद्धार	५५७	संबोधप्रकरण	२/६८
प्रवचनसारोद्धार	५५७	आराधनापताका (वीर)	५४३
प्रवचनसारोद्धार	५५९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७

प्रवचनसारोद्धार	५६०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	५६१	आराधनापताका (प्रा०)	६५१
प्रवचनसारोद्धार	५६२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३
प्रवचनसारोद्धार	५६२	संबोधप्रकरण	२/३१
प्रवचनसारोद्धार	५६३	पञ्चाशकप्रकरण	१३/३
प्रवचनसारोद्धार	५६४	पिण्डविशुद्धि	३
प्रवचनसारोद्धार	५६५	पिण्डविशुद्धि	४
प्रवचनसारोद्धार	५६५	संबोधप्रकरण	२/२७०
प्रवचनसारोद्धार	५६६	पिण्डनिर्युक्ति	४०८
प्रवचनसारोद्धार	५६६	संबोधप्रकरण	२/२७१
प्रवचनसारोद्धार	५६७	पिण्डविशुद्धि	४०९
प्रवचनसारोद्धार	५६८	पिण्डविशुद्धि	५२०
प्रवचनसारोद्धार	५६८	संबोधप्रकरण	२/२७३
प्रवचनसारोद्धार	५७४	पञ्चाशकप्रकरण	१८/३
प्रवचनसारोद्धार	५७५	पञ्चाशकप्रकरण	१८/४
प्रवचनसारोद्धार	५७६	पञ्चाशकप्रकरण	१८/५
प्रवचनसारोद्धार	५७७	पञ्चाशकप्रकरण	१८/६
प्रवचनसारोद्धार	५७८	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७
प्रवचनसारोद्धार	६११	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५३८
प्रवचनसारोद्धार	६१२	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५३९
प्रवचनसारोद्धार	६१३	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५४०
प्रवचनसारोद्धार	६१४	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५४१
प्रवचनसारोद्धार	३१४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९
प्रवचनसारोद्धार	६२३	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५४७
प्रवचनसारोद्धार	३२४	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५४८
प्रवचनसारोद्धार	६२४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१
प्रवचनसारोद्धार	६२५	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५४९
प्रवचनसारोद्धार	६२५	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२
प्रवचनसारोद्धार	६२६	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५५०
प्रवचनसारोद्धार	६२६	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४३
प्रवचनसारोद्धार	६२७	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५५१
प्रवचनसारोद्धार	६२७	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४४

प्रवचनसारोद्धार	६२८	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	१५५२
प्रवचनसारोद्धार	६२८	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५
प्रवचनसारोद्धार	६२९	आराधनापताका (प्रा०)	३३
प्रवचनसारोद्धार	६३६	संबोधप्रकरण	२/२३४
प्रवचनसारोद्धार	६३६	आराधनापताका (प्रा०)	७४६
प्रवचनसारोद्धार	६३७	आराधनापताका (प्रा०)	७४७
प्रवचनसारोद्धार	६३८	आराधनापताका (प्रा०)	७४८
प्रवचनसारोद्धार	६३९	आराधनापताका (प्रा०)	७४९
प्रवचनसारोद्धार	६४०	संबोधप्रकरण	३/२३८
प्रवचनसारोद्धार	६४१	संबोधप्रकरण	२/२३९
प्रवचनसारोद्धार	६४१	आराधनापताका (प्रा०)	७१४
प्रवचनसारोद्धार	६४१	पर्यन्ताराधना	२६०
प्रवचनसारोद्धार	६४२	आराधनापताका (प्रा०)	७१५
प्रवचनसारोद्धार	६४४	संबोधप्रकरण	२/१६
प्रवचनसारोद्धार	६४४	आराधनापताका (प्रा०)	७१७
प्रवचनसारोद्धार	६४६	आराधनापताका (प्रा०)	७१९
प्रवचनसारोद्धार	६४७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६
प्रवचनसारोद्धार	६५०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०
प्रवचनसारोद्धार	६५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१
प्रवचनसारोद्धार	६५१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८
प्रवचनसारोद्धार	३५२	ओघनिर्युक्ति भाष्यम्	७९
प्रवचनसारोद्धार	६५२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६
प्रवचनसारोद्धार	६५४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२
प्रवचनसारोद्धार	६५६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७
प्रवचनसारोद्धार	६५७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९
प्रवचनसारोद्धार	६६३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५
प्रवचनसारोद्धार	६७०	ओघनिर्युक्ति	७३०
प्रवचनसारोद्धार	६७६	निशीथभाष्यम्	४००३
प्रवचनसारोद्धार	६७७	निशीथभाष्यम्	४००१
प्रवचनसारोद्धार	६७८	निशीथभाष्यम्	४००२

प्रवचनसारोद्धार	६८५	आराधनापताका (प्रा०)	६७१
प्रवचनसारोद्धार	६८६	आराधनापताका (प्रा०)	६७२
प्रवचनसारोद्धार	६९१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	८२
प्रवचनसारोद्धार	६९३	तित्थोगालीपइण्णयं	६९९
प्रवचनसारोद्धार	६९४	आवश्यकनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७००	आवश्यकनिर्युक्ति	११६
प्रवचनसारोद्धार	७०९	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९
प्रवचनसारोद्धार	७०९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४३
प्रवचनसारोद्धार	७०९	ओघनिर्युक्ति	३१३
प्रवचनसारोद्धार	७१०	ओघनिर्युक्ति	३१४
प्रवचनसारोद्धार	७१०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००
प्रवचनसारोद्धार	७१०	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४
प्रवचनसारोद्धार	७१९	संबोधप्रकरण	२/२४१
प्रवचनसारोद्धार	७२१	आराधनापताका (वीर)	६४७
प्रवचनसारोद्धार	७२८	संबोधप्रकरण	२/२४९
प्रवचनसारोद्धार	७३४	पिण्डनिर्युक्ति	६६२
प्रवचनसारोद्धार	७३४	संबोधप्रकरण	२/२७४
प्रवचनसारोद्धार	७३५	पिण्डनिर्युक्ति	६६३
प्रवचनसारोद्धार	७३६	पिण्डनिर्युक्ति	६६४
प्रवचनसारोद्धार	७३७	पिण्डनिर्युक्ति	६६५
प्रवचनसारोद्धार	७३७	गच्छायारपइण्णयं	५९
प्रवचनसारोद्धार	७३८	विण्डविशुद्धि	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७३९	संबोधप्रकरण	२/२७७
प्रवचनसारोद्धार	७४०	पञ्चाशकप्रकरण	१६/२
प्रवचनसारोद्धार	७४५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००
प्रवचनसारोद्धार	७४५	संबोधपकरण	२/२८०
प्रवचनसारोद्धार	७५०	आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८
प्रवचनसारोद्धार	७५०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	५३
प्रवचनसारोद्धार	७५१	संबोधप्रकरण	१२/५२
प्रवचनसारोद्धार	७५५	संबोधप्रकरण	१२/५३
प्रवचनसारोद्धार	७५८	संबोधप्रकरण	१२/५४
प्रवचनसारोद्धार	७५७	संबोधप्रकरण	१२/५५

प्रवचनसारोद्धार	७५८	संबोधप्रकरण	१२/५६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	आवश्यकनिर्युक्ति	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	भगवतीसूत्रम्	२५/७/८०१
प्रवचनसारोद्धार	७६१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	४८३
प्रवचनसारोद्धार	७६१	आवश्यकनिर्युक्ति	६६७
प्रवचनसारोद्धार	७६१	पञ्चाशकप्रकरण	१२/३
प्रवचनसारोद्धार	७६२	आवश्यकनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	७६३	आवश्यकनिर्युक्ति	६८२
प्रवचनसारोद्धार	७६३	पञ्चाशकप्रकरण	१२/१०
प्रवचनसारोद्धार	७६४	आवश्यकनिर्युक्ति	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७६४	पञ्चाशकप्रकरण	१२/१४
प्रवचनसारोद्धार	७६७	आवश्यकनिर्युक्ति	६९७
प्रवचनसारोद्धार	७६८	पञ्चाशकप्रकरणम्	२३०
प्रवचनसारोद्धार	७७०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७७०	ओघनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७७०	व्यवहारसूत्रभाष्यम् उ. २ गा.	२०
प्रवचनसारोद्धार	७७१	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२४/७
प्रवचनसारोद्धार	७७२	पञ्चवस्तुकप्रकरण	८९५
प्रवचनसारोद्धार	७७३	पञ्चवस्तुकप्रकरण	८९६
प्रवचनसारोद्धार	७७५	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६
प्रवचनसारोद्धार	७७६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७
प्रवचनसारोद्धार	७७८	आवश्यकनिर्युक्ति	११७२
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	व्यवहारसूत्रभाष्यम् उ. ३ गा.	१५
प्रवचनसारोद्धार	७८१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९
प्रवचनसारोद्धार	७८१	व्यवहारसूत्रभाष्यम् उ. ३ गा.	१६
प्रवचनसारोद्धार	७८२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०
प्रवचनसारोद्धार	७८३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६
प्रवचनसारोद्धार	७८४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७

प्रवचनसारोद्धार	७८५	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८
प्रवचनसारोद्धार	७८६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६
प्रवचनसारोद्धार	७८६	ओघनिर्युक्ति	३१६
प्रवचनसारोद्धार	७८७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४
प्रवचनसारोद्धार	७८७	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५७
प्रवचनसारोद्धार	७८८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५
प्रवचनसारोद्धार	७८८	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८
प्रवचनसारोद्धार	७८९	ओघनिर्युक्ति	३१७
प्रवचनसारोद्धार	७८९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५९
प्रवचनसारोद्धार	७९०	निशीथभाष्यम्	३५०६
प्रवचनसारोद्धार	७९०	पंचकल्पभाष्य	२००
प्रवचनसारोद्धार	७९१	निशीथभाष्यम्	३५०७
प्रवचनसारोद्धार	७९१	पंचकल्पभाष्य	२०१
प्रवचनसारोद्धार	७९३	निशीथभाष्यम्	३५६१
प्रवचनसारोद्धार	७९५	निशीथभाष्यम्	३७०९
प्रवचनसारोद्धार	७९६	निशीथभाष्यम्	३७१०
प्रवचनसारोद्धार	७९७	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०
प्रवचनसारोद्धार	७९८	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१
प्रवचनसारोद्धार	७९९	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२
प्रवचनसारोद्धार	८००	निशीथभाष्यम्	११४४
प्रवचनसारोद्धार	८००	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	निशीथभाष्यम्	११४५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६
प्रवचनसारोद्धार	८०२	निशीथभाष्यम्	११४९
प्रवचनसारोद्धार	८०२	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०
प्रवचनसारोद्धार	८०३	निशीथभाष्यम्	११४८
प्रवचनसारोद्धार	८०३	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९
प्रवचनसारोद्धार	८०४	निशीथभाष्यम्	११५८
प्रवचनसारोद्धार	८०५	निशीथभाष्यम्	११५९
प्रवचनसारोद्धार	८०५	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९
प्रवचनसारोद्धार	८०६	निशीथभाष्यम्	११६०
प्रवचनसारोद्धार	८०६	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४०

प्रवचनसारोद्धार	८०७	निशीथभाष्यम्	११६१
प्रवचनसारोद्धार	८०७	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१
प्रवचनसारोद्धार	८०८	निशीथभाष्यम्	११६२
प्रवचनसारोद्धार	८०८	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३
प्रवचनसारोद्धार	८०९	संबोधप्रकरण	११/३८
प्रवचनसारोद्धार	८३६	संबोधप्रकरण	४/३०
प्रवचनसारोद्धार	८३७	आवश्यकनिर्युक्ति	८५७
प्रवचनसारोद्धार	८३७	संबोधप्रकरण	४/३२
प्रवचनसारोद्धार	८३८	आवश्यकनिर्युक्ति	८५८
प्रवचनसारोद्धार	८३९	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२
प्रवचनसारोद्धार	८४०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३
प्रवचनसारोद्धार	८४१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४
प्रवचनसारोद्धार	८४२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५
प्रवचनसारोद्धार	८४३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६
प्रवचनसारोद्धार	८४४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९
प्रवचनसारोद्धार	८४७	आवश्यकनिर्युक्ति	७५४
प्रवचनसारोद्धार	८४८	आवश्यकनिर्युक्ति	७५९
प्रवचनसारोद्धार	८५०	निशीथभाष्यम्	५०८७
प्रवचनसारोद्धार	८५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२
प्रवचनसारोद्धार	८५१	निशीथभाष्यम्	५०८६
प्रवचनसारोद्धार	८५१	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१
प्रवचनसारोद्धार	८५२	निशीथभाष्यम्	५०८८
प्रवचनसारोद्धार	८५२	बृहत्कल्पभाष्यम्	२५३३
प्रवचनसारोद्धार	८५३	निशीथभाष्यम्	५०८९
प्रवचनसारोद्धार	८५३	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४
प्रवचनसारोद्धार	८५५	संबोधप्रकरण	१२/६७
प्रवचनसारोद्धार	८५८	संबोधप्रकरण	१२/७०
प्रवचनसारोद्धार	८५९	संबोधप्रकरण	१२/७१
प्रवचनसारोद्धार	८६१	ओघनिर्युक्ति	६६०
प्रवचनसारोद्धार	८६२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१

प्रवचनसारोद्धार	८६४	ओघनिर्युक्ति	३५१
प्रवचनसारोद्धार	८६४	पिण्डनिर्युक्ति	२६
प्रवचनसारोद्धार	८६५	ओघनिर्युक्ति	३५२
प्रवचनसारोद्धार	८६५	पिण्डनिर्युक्ति	२७
प्रवचनसारोद्धार	८६६	पिण्डनिर्युक्ति	६४२
प्रवचनसारोद्धार	८६७	पिण्डनिर्युक्ति	६५०
प्रवचनसारोद्धार	८६८	पिण्डनिर्युक्ति	६५१
प्रवचनसारोद्धार	८६९	पिण्डनिर्युक्ति	६५२
प्रवचनसारोद्धार	८७०	पिण्डनिर्युक्ति	६५३
प्रवचनसारोद्धार	८७१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७
प्रवचनसारोद्धार	८७१	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८२
प्रवचनसारोद्धार	८७२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८
प्रवचनसारोद्धार	८७२	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८३
प्रवचनसारोद्धार	८७३	पञ्चवस्तुप्रकरणम्	७०९
प्रवचनसारोद्धार	८७३	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८४
प्रवचनसारोद्धार	८७४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६
प्रवचनसारोद्धार	८७५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (प्रा.)	१०
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (वीर)	१५५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	आराधनापताका (प्रा०)	११
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पर्यन्ताराधना	८
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (प्रा०)	१२
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (वीर)	१५७
प्रवचनसारोद्धार	८७७	पर्यन्ताराधना	९
प्रवचनसारोद्धार	८७९	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४
प्रवचनसारोद्धार	८८०	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५
प्रवचनसारोद्धार	८८५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६
प्रवचनसारोद्धार	८८५	स्थानांगसूत्रम् स्थान. १० सु.२७७ गा. १७५	
प्रवचनसारोद्धार	८८५	तित्थोगालीपइण्णयं	८८८
प्रवचनसारोद्धार	८८६	स्थानांगसूत्रम् स्थान. १० सु.७७७ गा. १७६	
प्रवचनसारोद्धार	८८६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२७

प्रवचनसारोद्धार	९५८	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२५
प्रवचनसारोद्धार	९५९	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२६
प्रवचनसारोद्धार	९६०	उत्तराध्ययनसूत्रम्	१८/२७
प्रवचनसारोद्धार	९६३	जीवसमास	४०
प्रवचनसारोद्धार	९६४	जीवसमास	४१
प्रवचनसारोद्धार	९६५	जीवसमास	४२
प्रवचनसारोद्धार	९६६	जीवसमास	४३
प्रवचनसारोद्धार	९६७	जीवसमास	४४
प्रवचनसारोद्धार	९६८	बृहत्संग्रहणी	३५१
प्रवचनसारोद्धार	९६९	बृहत्संग्रहणी	३५२
प्रवचनसारोद्धार	९७७	संबोधप्रकरण	७/१
प्रवचनसारोद्धार	९८०	संबोधप्रकरण	६/८८
प्रवचनसारोद्धार	९८१	संबोधप्रकरण	६/८९
प्रवचनसारोद्धार	९८२	संबोधप्रकरण	६/९०
प्रवचनसारोद्धार	९८४	संबोधप्रकरण	६/९६
प्रवचनसारोद्धार	९८५	पञ्चाशकप्रकरण	१०/१७
प्रवचनसारोद्धार	९८६	पञ्चाशकप्रकरण	१०/१८
प्रवचनसारोद्धार	९८६	संबोधप्रकरण	६/९८
प्रवचनसारोद्धार	९८७	पञ्चाशकप्रकरण	१०/१९
प्रवचनसारोद्धार	९८९	संबोधप्रकरण	६/१०४
प्रवचनसारोद्धार	९९२	संबोधप्रकरण	६/१०३
प्रवचनसारोद्धार	९९३	संबोधप्रकरण	६/११०
प्रवचनसारोद्धार	१००१	निशीथभाष्यम्	४८३३
प्रवचनसारोद्धार	१००१	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३
प्रवचनसारोद्धार	१००२	निशीथभाष्यम्	४८३४
प्रवचनसारोद्धार	१००२	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४
प्रवचनसारोद्धार	१००३	निशीथभाष्यम्	४८३५
प्रवचनसारोद्धार	१००३	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५
प्रवचनसारोद्धार	१००४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५२
प्रवचनसारोद्धार	१००५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५३
प्रवचनसारोद्धार	१००६	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१२
प्रवचनसारोद्धार	१००७	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१३

प्रवचनसारोद्धार	१००८	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१००९	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१६
प्रवचनसारोद्धार	१०१०	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१७
प्रवचनसारोद्धार	१०११	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१९
प्रवचनसारोद्धार	१०१२	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२१
प्रवचनसारोद्धार	१०१४	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२२
प्रवचनसारोद्धार	१०१५	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२३
प्रवचनसारोद्धार	१०१८	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२४
प्रवचनसारोद्धार	१०१८	जीवसमास	११७
प्रवचनसारोद्धार	१०१९	जीवसमास	११८
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	जीवसमास	११९
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	ज्योतिष्करण्डक	७९
प्रवचनसारोद्धार	१०२१	जीवसमास	१२०
प्रवचनसारोद्धार	१०२२	जीवसमास	१२१
प्रवचनसारोद्धार	१०२३	जीवसमास	१२२
प्रवचनसारोद्धार	१०२४	जीवसमास	१२५
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	जीवसमास	१२६
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	तित्थोगालीपइण्णयं	१२
प्रवचनसारोद्धार	१०२६	जीवसमास	१३१
प्रवचनसारोद्धार	१०२७	जीवसमास	१२३
प्रवचनसारोद्धार	१०२८	जीवसमास	१२४
प्रवचनसारोद्धार	१०२९	जीवसमास	१२७
प्रवचनसारोद्धार	१०३०	जीवसमास	१३०
प्रवचनसारोद्धार	१०३१	जीवसमास	१३२
प्रवचनसारोद्धार	१०३२	जीवसमास	१३३
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	ज्योतिष्करण्डक*	८५
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	तित्थोगालीपइण्णयं	१८
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	ज्योतिष्करण्डक प्र.	८६
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	तित्थोगालीपइण्णयं	११७०
प्रवचनसारोद्धार	१०३६	तित्थोगालीपइण्णयं	२१
प्रवचनसारोद्धार	१०३७	तित्थोगालीपइण्णयं	२२

* डॉ. पाण्डे के आलेख में इसका गाथा क्रमांक ९५ है ।

प्रवचनसारोद्धार	१०५७	संबोधप्रकरण	२/४५
प्रवचनसारोद्धार	१०६२	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५९
प्रवचनसारोद्धार	१०६३	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६०
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६१
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	संबोधप्रकरण	२/६५
प्रवचनसारोद्धार	१०६५	संबोधप्रकरण	२/६६
प्रवचनसारोद्धार	१०६५	दशवैकालिकानिर्युक्ति	२६२
प्रवचनसारोद्धार	१०६७	तित्थोगालीपइण्णयं	४६
प्रवचनसारोद्धार	१०६८	तित्थोगालीपइण्णयं	४७
प्रवचनसारोद्धार	१०७०	तित्थोगालीपइण्णयं	४९
प्रवचनसारोद्धार	१०७२	बृहत्संग्रहणी	२३९
प्रवचनसारोद्धार	१०७३	बृहत्संग्रहणी	२५५
प्रवचनसारोद्धार	१०७५	बृहत्संग्रहणी	२३३
प्रवचनसारोद्धार	१०७६	बृहत्संग्रहणी	२३४
प्रवचनसारोद्धार	१०७९	बृहत्संग्रहणी	२७९
प्रवचनसारोद्धार	१०८०	बृहत्संग्रहणी	२८०
प्रवचनसारोद्धार	१०८१	बृहत्संग्रहणी	२८१
प्रवचनसारोद्धार	१०८२	बृहत्संग्रहणी	२८२
प्रवचनसारोद्धार	१०८३	बृहत्संग्रहणी	२८९
प्रवचनसारोद्धार	१०८४	आवश्यकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	१०८५	भगवतीसूत्रम्	३७/४
प्रवचनसारोद्धार	१०८६	समवायांगसूत्रम् स्थान १५ सूत्र १/गा. ११-१२	
प्रवचनसारोद्धार	१०९१	बृहत्संग्रहणी	२८४
प्रवचनसारोद्धार	१०९२	बृहत्संग्रहणी	२८५
प्रवचनसारोद्धार	१०९३	बृहत्संग्रहणी	२८६
प्रवचनसारोद्धार	१०९४	उपदेशपदम्	१७
प्रवचनसारोद्धार	१०९४	बृहत्संग्रहणी	३३३
प्रवचनसारोद्धार	१०९५	बृहत्संग्रहणी	३३४
प्रवचनसारोद्धार	१०९६	बृहत्संग्रहणी	३१२
प्रवचनसारोद्धार	१०९७	बृहत्संग्रहणी	३१३
प्रवचनसारोद्धार	१०९९	बृहत्संग्रहणी	३०७
प्रवचनसारोद्धार	११०२	बृहत्संग्रहणी	३११

प्रवचनसारोद्धार	११०३	बृहत्संग्रहणी	३१०
प्रवचनसारोद्धार	११०४	बृहत्संग्रहणी	३०८
प्रवचनसारोद्धार	१११०	बृहत्संग्रहणी	३४२
प्रवचनसारोद्धार	१११७	बृहत्संग्रहणी	१७०
प्रवचनसारोद्धार	१११८	बृहत्संग्रहणी	१६९
प्रवचनसारोद्धार	१११९	बृहत्संग्रहणी	१७१
प्रवचनसारोद्धार	११२०	बृहत्संग्रहणी	१७२
प्रवचनसारोद्धार	११२४	बृहत्संग्रहणी	३३७
प्रवचनसारोद्धार	११२५	बृहत्संग्रहणी	३३८
प्रवचनसारोद्धार	११२८	बृहत्संग्रहणी	३४०
प्रवचनसारोद्धार	११२७	बृहत्संग्रहणी	३४१
प्रवचनसारोद्धार	११२९	बृहत्संग्रहणी	४२
प्रवचनसारोद्धार	११३०	बृहत्संग्रहणी	५८
प्रवचनसारोद्धार	११३०	देविदत्थओ पइण्णयं	६७
प्रवचनसारोद्धार	११३१	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् २/सू. १९४/गा.१५१	
प्रवचनसारोद्धार	११३३	जीवसमास	१९
प्रवचनसारोद्धार	११३३	देविदत्थओ पइण्णयं	८१
प्रवचनसारोद्धार	११३४	जीवसमास	२०
प्रवचनसारोद्धार	११३७	देविदत्थओ पइण्णयं	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११३८	बृहत्संग्रहणी	५
प्रवचनसारोद्धार	११३९	बृहत्संग्रहणी	६
प्रवचनसारोद्धार	११४०	बृहत्संग्रहणी	४
प्रवचनसारोद्धार	११४३	बृहत्संग्रहणी	१२
प्रवचनसारोद्धार	११४६	बृहत्संग्रहणी	१७
प्रवचनसारोद्धार	११४७	बृहत्संग्रहणी	३५
प्रवचनसारोद्धार	११४८	बृहत्संग्रहणी	३६
प्रवचनसारोद्धार	११४९	बृहत्संग्रहणी	३७
प्रवचनसारोद्धार	११५०	बृहत्संग्रहणी	५५
प्रवचनसारोद्धार	११५१	बृहत्संग्रहणी	११७
प्रवचनसारोद्धार	११५२	बृहत्संग्रहणी	११८
प्रवचनसारोद्धार	११५३	बृहत्संग्रहणी	११९
प्रवचनसारोद्धार	११५४	बृहत्संग्रहणी	१२०

प्रवचनसारोद्धार	११५५	बृहत्संग्रहणी	१४३
प्रवचनसारोद्धार	११५६	बृहत्संग्रहणी	१४४
प्रवचनसारोद्धार	११५७	बृहत्संग्रहणी	१४८
प्रवचनसारोद्धार	११५८	बृहत्संग्रहणी	१५०
प्रवचनसारोद्धार	११६०	देविदत्थओ पइण्णयं	१९२
प्रवचनसारोद्धार	११६१	बृहत्संग्रहणी	२२०
प्रवचनसारोद्धार	११६२	बृहत्संग्रहणी	२२१
प्रवचनसारोद्धार	११६३	बृहत्संग्रहणी	२२२
प्रवचनसारोद्धार	११६४	बृहत्संग्रहणी	२२३
प्रवचनसारोद्धार	११६५	बृहत्संग्रहणी	२२४
प्रवचनसारोद्धार	११६७	बृहत्संग्रहणी	१५०
प्रवचनसारोद्धार	११६८	बृहत्संग्रहणी	१५१
प्रवचनसारोद्धार	११६९	बृहत्संग्रहणी	१५२
प्रवचनसारोद्धार	११७०	बृहत्संग्रहणी	१५३
प्रवचनसारोद्धार	११७१	बृहत्संग्रहणी —	१५४
प्रवचनसारोद्धार	११७२	बृहत्संग्रहणी	१५५
प्रवचनसारोद्धार	११७३	बृहत्संग्रहणी	१५६
प्रवचनसारोद्धार	११७४	बृहत्संग्रहणी	१८०
प्रवचनसारोद्धार	११७७	बृहत्संग्रहणी	१५७
प्रवचनसारोद्धार	११७८	बृहत्संग्रहणी	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११८०	बृहत्संग्रहणी	१९८
प्रवचनसारोद्धार	११८१	बृहत्संग्रहणी	१९९
प्रवचनसारोद्धार	११८२	बृहत्संग्रहणी	२००
प्रवचनसारोद्धार	११८३	बृहत्संग्रहणी	२०१
प्रवचनसारोद्धार	११८४	बृहत्संग्रहणी	२०२
प्रवचनसारोद्धार	११८५	बृहत्संग्रहणी	२१४
प्रवचनसारोद्धार	११८७	बृहत्संग्रहणी	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१२०७	आराधनापताका (प्रा.)	६८६
प्रवचनसारोद्धार	१२०८	आराधनापताका (प्रा.)	६८७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	समवायांगसूत्रम् परि. सू.	१५८/गा. ४७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	तित्थोगालीपइण्णयं	५७०
प्रवचनसारोद्धार	१२१०	समवायांगसूत्रम् परि. सू.	१५८/गा. ४८

प्रवचनसारोद्धार	१२१०	तित्थोगालीपइण्णयं	५७१
प्रवचनसारोद्धार	१२११	आवश्यकभाष्यम्	४१
प्रवचनसारोद्धार	१२१२	आवश्यकभाष्यम्	४२
प्रवचनसारोद्धार	१२१३	आवश्यकभाष्यम्	४३
प्रवचनसारोद्धार	१२१३	तित्थोगालीपइण्णयं	६१०
प्रवचनसारोद्धार	१२१५	बृहसंग्रहणी	३०३
प्रवचनसारोद्धार	१२१६	बृहसंग्रहणी	३०४
प्रवचनसारोद्धार	१२१७	बृहसंग्रहणी	३१२
प्रवचनसारोद्धार	१२१८	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१
प्रवचनसारोद्धार	१२१९	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/२
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/३
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	तित्थोगालीपइण्णयं	११३३
प्रवचनसारोद्धार	१२२१	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२२२	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/५
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/६
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	तित्थोगालीपइण्णयं	११३६
प्रवचनसारोद्धार	१२२४	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/७
प्रवचनसारोद्धार	१२२५	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/८
प्रवचनसारोद्धार	१२२६	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/९
प्रवचनसारोद्धार	१२२७	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१०
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	स्थानांगसूत्रम् *	९/६७३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	तित्थोगालीपइण्णयं	११४१
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	तित्थोगालीपइण्णयं	११४२
प्रवचनसारोद्धार	१२३०	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१३
प्रवचनसारोद्धार	१२३१	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१४
प्रवचनसारोद्धार	१२३८	संबोधप्रकरण	३/३२
प्रवचनसारोद्धार	१२४१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५
प्रवचनसारोद्धार	१२४२	संबोधप्रकरण	३/३७

* स्थानांग के सन्दर्भ में प्रथम संख्या स्थान की दूसरी सूत्र की एवं तीसरी गाथा की सूचक है। ज्ञातव्य है कि मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित संस्करण में गाथा क्रमांक १-१७ न होकर ११७-१३० है।

प्रवचनसारोद्धार	१२४३	संबोधप्रकरण	३/३८
प्रवचनसारोद्धार	१२४४	संबोधप्रकरण	३/३९
प्रवचनसारोद्धार	१२४७	संबोधप्रकरण	२/४२
प्रवचनसारोद्धार	१२५१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७
प्रवचनसारोद्धार	१२५४	पञ्चसंग्रह	३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२६२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	धर्मसंग्रहणी	६१८
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	धर्मसंग्रहणी	६१९
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	धर्मसंग्रहणी	६२०
प्रवचनसारोद्धार	१२६६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५
प्रवचनसारोद्धार	१२६७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६
प्रवचनसारोद्धार	१२६८	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७
प्रवचनसारोद्धार	१२६९	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८
प्रवचनसारोद्धार	१२७०	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२७१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	१२७२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१
प्रवचनसारोद्धार	१२७३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२
प्रवचनसारोद्धार	१२७४	पञ्चसंग्रह	३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२७६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२९८	पञ्चसंग्रह	३/२५
प्रवचनसारोद्धार	१३००	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३
प्रवचनसारोद्धार	१३०२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१४
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	जीवसमास	६
प्रवचनसारोद्धार	१३०५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४
प्रवचनसारोद्धार	१३११	जीवसमास	१९२
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	जीवसमास	२५
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	बृहत्संग्रहणी	३६३

प्रवचनसारोद्धार	१३१९	जीवसमास	८२
प्रवचनसारोद्धार	१३२३	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२
प्रवचनसारोद्धार	१३२४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	३
प्रवचनसारोद्धार	१३२५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	५
प्रवचनसारोद्धार	१३२६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	६
प्रवचनसारोद्धार	१३२७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	७
प्रवचनसारोद्धार	१३२८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	८
प्रवचनसारोद्धार	१३२९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	९
प्रवचनसारोद्धार	१३३०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१०
प्रवचनसारोद्धार	१३३१	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	११
प्रवचनसारोद्धार	१३३२	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१२
प्रवचनसारोद्धार	१३३३	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१३
प्रवचनसारोद्धार	१३३४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१४
प्रवचनसारोद्धार	१३३५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१६
प्रवचनसारोद्धार	१३३६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१७
प्रवचनसारोद्धार	१३३७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१८
प्रवचनसारोद्धार	१३३८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	१९
प्रवचनसारोद्धार	१३३९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२०
प्रवचनसारोद्धार	१३४०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२१
प्रवचनसारोद्धार	१३४१	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२२
प्रवचनसारोद्धार	१३४२	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२३
प्रवचनसारोद्धार	१३४४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२४
प्रवचनसारोद्धार	१३४५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२५
प्रवचनसारोद्धार	१३४६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२६
प्रवचनसारोद्धार	१३४७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२७
प्रवचनसारोद्धार	१३४८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	२८
प्रवचनसारोद्धार	१३४९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	३०
प्रवचनसारोद्धार	१३५०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरण	४०
प्रवचनसारोद्धार	१३५४	संबोधप्रकरण	३/१९९
प्रवचनसारोद्धार	१३५५	संबोधप्रकरण	३/२००
प्रवचनसारोद्धार	१३५६	धर्मरत्न प्रकरणम्	५
प्रवचनसारोद्धार	१३५६	संबोधप्रकरणम्	५/६

प्रवचनसारोद्धार	१३५७	धर्मरत्नप्रकरणम्	६
प्रवचनसारोद्धार	१३५७	संबोधप्रकरण	५/७
प्रवचनसारोद्धार	१३५८	धर्मरत्नप्रकरणम्	७
प्रवचनसारोद्धार	१३५८	संबोधप्रकरण	५/८
प्रवचनसारोद्धार	१३८७	तित्थोगालीपइण्णयं	८२
प्रवचनसारोद्धार	१३८९	अङ्गुलसप्तति	२
प्रवचनसारोद्धार	१३९०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	सूत्र २१९
प्रवचनसारोद्धार	१३९०	ज्योतिष्करण्डक	७३
प्रवचनसारोद्धार	१३९१	जीवसमास	९८
प्रवचनसारोद्धार	१३९१	ज्योतिष्करण्डक	७४
प्रवचनसारोद्धार	१३९४	अङ्गुलसप्तति	४
प्रवचनसारोद्धार	१३९४	जीवसमास	१०३
प्रवचनसारोद्धार	१३९५	अङ्गुलसप्तति	५
प्रवचनसारोद्धार	१३९६	विशेषणवती	१
प्रवचनसारोद्धार	१४३९	बृहत्संग्रहणी	१८१
प्रवचनसारोद्धार	१४४३	भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३
प्रवचनसारोद्धार	१४४८	आवश्यकनिर्युक्ति	२१४
प्रवचनसारोद्धार	१४४९	भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३
प्रवचनसारोद्धार	१४५४	आवश्यकभाष्यम्	२१६
प्रवचनसारोद्धार	१४५५	आवश्यकभाष्यम्	२१७
प्रवचनसारोद्धार	१४५६	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३१
प्रवचनसारोद्धार	१३५७	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३२
प्रवचनसारोद्धार	१४५८	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३४
प्रवचनसारोद्धार	१४५९	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३५
प्रवचनसारोद्धार	१४६०	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३७
प्रवचनसारोद्धार	१४६१	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३८
प्रवचनसारोद्धार	१४६२	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४२
प्रवचनसारोद्धार	१४६३	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४४
प्रवचनसारोद्धार	१४६४	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७
प्रवचनसारोद्धार	१४६५	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०
प्रवचनसारोद्धार	१४६६	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१
प्रवचनसारोद्धार	१४६७	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२

प्रवचनसारोद्धार	१४६८	आवश्यकभाष्यम्	२१९
प्रवचनसारोद्धार	१४६९	आवश्यकभाष्यम्	२२०
प्रवचनसारोद्धार	१४७०	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५
प्रवचनसारोद्धार	१४७१	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८
प्रवचनसारोद्धार	१५४०	देविदत्थओ पइण्णायं	२८९
प्रवचनसारोद्धार	१५८७	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११२	
प्रवचनसारोद्धार	१५८८	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११३	
प्रवचनसारोद्धार	१५८९	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११४	
प्रवचनसारोद्धार	१५९०	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११५	
प्रवचनसारोद्धार	१५९१	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११६	
प्रवचनसारोद्धार	१५९२	प्रज्ञापनासूत्रम् पद् १/सू. १०२/गा.११७	

Our Important Publications

Studies in Jaina Philosophy	*Dr. Nathmal Tatia*	*100.00*
Jaina Temples of Western India	*Dr. Harihar Singh*	*200.00*
Jaina Epistemology	*Dr. I.C. Shastri*	*150.00*
Concept of Matter in Indian Thought	*Dr. J.C. Sikdar*	*150.00*
Jaina Theory of Reality	*Dr. J.C. Sikdar*	*150.00*
Jaina Perspective in Philosophy & Religion	*Dr. Ramji Singh*	*100.00*
Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)		*2200.00*
An Introduction to Jaina Sādhanā	*Prof. Sagarmal Jain*	*40.00*
Pearls of Jaina Wisdom	*Duluchand Jain*	*120.00*
Scientific Contents in Prakrit Canons	*Dr. N.L. Jain*	*300.00*
The Heritage of the Last Arhat:Mahāvīra	*Dr. C. Krause*	*20.00*
The Path of Arhat	*T.U. Mehta*	*100.00*
Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda	*Ed. Prof.S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey*	*500.00*
The Word of Non-Living	*Dr. N.L. Jain*	*400.00*
जैनधर्म और तांत्रिक साधना	प्रो० सागरमल जैन	३५०.००
सागर जैन-विद्या भारती (पाँच भाग)	प्रो० सागरमल जैन	५००.००
गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो० सागरमल जैन	६०.००
अहिंसा की प्रासंगिकता	प्रो० सागरमल जैन	१००.००
अष्टकप्रकरणम्	डॉ० अशोककुमार सिंह	२००.००
दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ० अशोककुमार सिंह	१२५.००
जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ० शिवप्रसाद	१००.००
अचलगच्छ का इतिहास	डॉ० शिवप्रसाद	२५०.००
तपागच्छ का इतिहास	डॉ० शिवप्रसाद	५००.००
सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय	१००.००
जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० सुधा जैन	३००.००
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		६३०.००
हिन्दी जैन साहित्य का बीहद इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		७६०.००
जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी	१५०.००
महावीर और उनके दशधर्म	प्रो० भागचन्द्र जैन	८०.००
वज्जालग्गं (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० विश्वनाथ पाठक	८०.००
प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पा०-डॉ० के०आर०चन्द्र	४००.००
भारतीय जविन मूल्य	प्रो० सुरेन्द्र वर्मा	७५.००
नलविलासनाटकम्	सम्पा०-प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे	६०.००
समाधिमरण	डॉ० रज्जनकुमार	२६०.००
हिन्दी गद्य के विकास में पं० सदासुखदासजी का योगदान	डॉ० मुन्नी जैन	३००.००
पञ्चाशक-प्रकरणम्	अनु०-डॉ दीनानाथ शर्मा	२५०.००
जैनधर्म की साध्वियाँ एवं महिलाएँ	हीराबाई बोरदिया	५०.००
बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	२००.००
महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	६५.००
भारत की जैन गुफाएँ	डॉ० हरिहर सिंह	१५०.००

***Pārśwanātha Vidyāpīṭha*- Varanasi -221005 (INDIA)**